एक ऐसे युग में जब कि चारों ओर अशान्ति, अराजकता, अकाल, बेकारी और भुखमरी फैली हुई है, लेखक ने इस पुस्तक में नवजीवन के सञ्चार के लिए गांधीवादी सृजनात्मक दृष्टिकोण दिया है। साहित्य, संस्कृति, कला, समाज, सबको एक ही उर्वर भूमि में रोप दिया है। वह भूमि है गाँवों की धरती। लेखक का दृष्टिकोण पृथ्वी की तरह ही पुरातन है, प्रकृति की तरह ही चिरन्तन है। नवीनता उसकी अभिव्यक्ति में है।

यह केवल एक पुस्तक ही नहीं, चिन्तनशील मानव के हृदय की धड़कन है, स्पन्दन है, युग-मन्थन है। आइए, इससे तादात्म्य स्थापित कीजिए।

प्रतिष्ठान

जीवन और साहित्य का संस्थापन]

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

प्रकाशक

न प्रेस, (पब्लिकेशन्स) लिमिटेड,

इलाहाबाद

सन् १९५२

दुधमुँहे अनुज

रुचन और हीरा

को

जो शैशव में ही चल बसे, स्मृति जिनके लिए पल-भर की पलक-झलक मात्र रह गयी।

॥ श्रीः ॥

आमुख

'परिव्राजक की प्रजा' के बाद 'प्रतिष्ठान' उसका परिशिष्ट तथा भाष्य बन गया है।

'प्रतिष्ठान' के लेखों में लेखन-शैली की विविधता है। इसमें 'पर्सनल एसे' भी हैं, संस्मरण भी है, और आज कल के अखबारी रिपोर्टाज का नमूना भी (जैसे 'मिथिला की अमराइयों' में)। इनके अतिरिक्त, समीक्षात्मक साहित्यिक निबन्ध भी हैं। सब मिला कर इन सभी प्रयासों का दृष्टिकोण रचनात्मक है। ये प्रकीर्णक नहीं, परस्पर सम्बद्ध हैं; इन सभी लेखों के भीतर से एक निर्म्माण-सूत्र माला के धागे की तरह चला गया है। इसी लिए किसी उपन्यास के विविध परिच्छेदों की तरह इनकी अनेकता में भी अनुबन्धता है। मेरी सभी पुस्तकों में ऐसी ही क्रमबद्धता है।

मेरे लेखों पर लेखन-कला की दृष्टि से भी विचार किया जाना चाहिये, तभी पाठकों और छात्रों को मानसिक स्वावलम्बन मिल सकता है। अध्ययन से तो कोरा पुस्तकीय ज्ञान ही हो सकता है, प्रतिभा का प्रस्फुरण नहीं। कला और भावना को आत्मसात् करने के लिए जब अन्तःकरण जगाया जायगा तभी पाठकों में भी प्रतिभा का प्रादुर्भाव होगा। इसके बिना उनके मस्तिष्क साँचों में ढले हुए केवल टकसाली सिक्के रह जायँगे। आज युनिवर्सिटियों और कालेजों में ऐसे ही निर्जीव सिक्के ढल रहे हैं। प्रति वर्ष साहित्य के जो नये-नये डाक्टर पैदा हो रहे हैं वे अपनी ही घिसी-घिसाई परम्परा की छाप छात्रों पर छोप रहे हैं।

अध्ययन की इस जड़-प्रणाली से नयी पीढ़ी का हार्दिक विकास नहीं हो रहा है, ह्रास हो रहा है।

'प्रतिष्ठान' के लेखों में लेखन के अतिरिक्त जीवन की भी रचनात्मक प्रक्रिया है। ये सभी लेख एक सुनिश्चित ध्येय की ओर अभिमुख हैं। मेरा गन्तव्य जीवन का नैसर्गिक निर्म्माण है। नवनिर्म्माण के लिए मैंने प्रकृति का निमन्त्रण दिया है। उसी से कला, संस्कृति और पुरुषार्थ का भी स्वाभाविक प्रस्फुटन और उन्नयन होता है। इसी दृष्टि से मैंने काव्य में छायावाद और जीवन में गान्धीवाद को प्रतिष्ठित किया है।

कतिपय समीक्षक मेरे आलोचनात्मक लेखों को प्रभाववादी समालोचना के अन्तर्गत रखते हैं। हमारे साहित्य में जब छायावाद का आविर्भाव हुआ तब अपनी नवीनता के कारण वह हृदङ्गम नहीं हो पा रहा था। लोगों में भावानुभूति जगाने के लिए मैंने छायावाद का मार्म्मिक पक्ष उपस्थित किया। कवि और पाठकों के बीच आन्तरिक सूत्र जोड़ने के लिए ऐसे साहित्यिक प्रयास की आवश्यकता है।

मेरे समालोचनात्मक लेखों को किसी-किसी ने गद्यकाव्य कहा है और मेरी भाषा को उपमा और रूपक का मायाजाल।—(यही मन्तव्य रवि बाबू के लेखों के लिए भी लागू होता है। वे मेरे भी गुरुदेव हैं)। सच तो यह कि मेरी समीक्षा में रमणीयता है, रसात्मकता है। भावना की तरह ही मैंने भाषा में भी रस-सञ्चार करने का प्रयत्न किया है। जिनमें हार्दिकता अथवा स्वाभाविक प्रतिभा का अभाव है वे शास्त्रीय समीक्षा की ओट में अपनी असमर्थता को ही छिपाते हैं। क्या नीरसता और बौद्धिक गरिष्ठता ही साहित्य है!

किसी वस्तु को देखने का दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हो सकता है। सूखे वृक्ष को 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' भी कहा जा सकता है और 'नीरस

तरुरिह विलसति पुरतः' भी। बात दोनों में एक ही है, अन्तर दोनों की अभिव्यक्ति में है, व्यञ्जना में है। दूसरी अभिव्यक्ति में वास्तविकता के साथ सरसता भी है। इसे चाहे गद्यकाव्य कहिये चाहे अलङ्कृत चित्रण, मेरी समालोचना और भाषा में ऐसा ही निरीक्षण और अभि-व्यञ्जन है।

प्रारम्भ में मेरा आलोचनात्मक प्रयास भले ही प्रभाववादी रहा हो, किन्तु वही मेरी सीमा बन कर नहीं रह गया। प्रभाववादी समालोचना में भी मैंने साहित्य के इतिहास और काव्य के मनोवैज्ञानिक क्रम-विकास का आभास दिया है, जैसे 'सञ्चारिणी' में। उसके बाद शास्त्रीय और जीवन के रचनात्मक दृष्टिकोण से भी विचार किया है—जैसे 'युग और साहित्य', 'सामयिकी' तथा 'ज्योति-विहग' में।

शास्त्रीय दृष्टि से तो साहित्य की समीक्षा चली आ रही थी, किन्तु रीति-युग और छायावाद-युग दोनों की समालोचना जीवन के आर्थिक पक्ष से निरपेक्ष थी। इसी लिए प्रगतिवाद ने साहित्य की पुरानी मान्यताओं पर प्रहार किया। छायावाद-युग के आलोचकों में मैंने ही भावना को जीवन का ठोस आधार दिया। मैंने दिखलाया कि छायावाद का आर्थिक आधार वही है जो गान्धीवाद का। छायावाद में जिस प्रकृति का भावयोग है, गान्धीवाद में उसी प्रकृति का ग्रामोद्योग (कर्म्मयोग)। 'ज्योतिविहग' में कहा है कि ब्रजभाषा और छायावाद के ह्रास का कारण भाव-विलासिता नहीं है, बल्कि ग्रामोद्योगों (जीवन के प्राकृतिक पुरुषार्थों) का ह्रास है। जीवन और साहित्य, दोनों यन्त्र-युग के शिकार हो गये हैं।

आज हिन्दी के समालोचना-साहित्य में रूढ़िगत जड़ता आ गयी है। युनिवर्सिटियों के शास्त्रीय समीक्षक आर्थिक पक्ष (आधार-पक्ष) को दृष्टि से ओझल कर देते हैं, प्रगतिवादी आलोचक भाव और

कला-पक्ष की अवहेलना कर देते हैं। दोनों समूह केवल अपने-अपने पक्ष की गतानुगति लेकर चल रहे हैं। मैंने साहित्य में हृदय-पक्ष, कला-पक्ष और आर्थिक पक्ष का एकान्वय करने का प्रयत्न किया है। शास्त्रीय आलोचकों को गान्धीवाद का आर्थिक पक्ष देकर उनके दृष्टिकोण को जीवन्त करना चाहा है, प्रगतिवादी आलोचकों को भाव और कला का हार्दिक पक्ष देकर उनके आर्थिक दृष्टिकोण को उर्व्वर बनाना चाहा है। कोई भी यान्त्रिक प्रयास अनुर्व्वर है। कल-कारखानों और फैक्टरियों से न तो जीवन ही पनप सकता है और न साहित्य।

'कल्पना' में राजेश्वर जी ने 'ज्योतिविहग' की समीक्षा करते हुए ठीक लखा है कि, 'प्रगतिवादी स्थूलता से द्विवेदी जी का लगाव नहीं जान पड़ता।'—मैं स्थूलता (भौतिकता) तो चाहता हूँ किन्तु पञ्चभूतों की तरह ही स्वाभाविक, न कि मशीनों की तरह कृत्रिम।

मैं भौतिकता और आध्यात्मिकता में कोई बिलगाव नहीं मानता। दोनों एक ही मिट्टी की उपज हैं। अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की तरह सम्बद्ध हैं। जिस मृण्मयी साधना (कृषि) से भौतिक उत्कर्ष होता है उसी पार्थिव साधना से आध्यात्मिक उत्थान भी। राम और कृष्ण के युग में इसका उदाहरण देखा जा सकता है।

अस्तु। अपने साहित्यिक लेखों को मैं समालोचना के बदलते हुए मानदण्डों को लेकर नहीं लिखता। रीति-युग गया, द्विवेदी-युग आया; द्विवेदी-युग गया, छायावाद-युग आया; छायावाद-युग गया, प्रगतिवादी युग आया। इस तरह समय के साथ-साथ क्या साहित्य का दृष्टिकोण भी केवल तात्कालिक है, उसका स्थायी स्वारस्य कुछ भी नहीं है? अपने लेखों में मैं जीवन और साहित्य की चिरन्तन वृत्तियों का मर्म्मोद्रेक करता हूँ। इसी लिए मेरे लेख समालोचनात्मक भी हैं और अपने आप में स्वतन्त्र निबन्ध भी। यही बात अपने संस्मरणों

('पथचिह्न' और 'परिव्राजक की प्रजा') के सम्बन्ध में भी कह सकता हूँ।

मेरा अब तक का सम्पूर्ण रचनात्मक दृष्टिकोण 'प्रतिष्ठान' में केन्द्रित हो गया है। आशा है, पाठकों को यह अपने नाम के अनुरूप ही प्रेरणा प्रदान कर सकेगा।

लोलार्क कुण्ड,
काशी,
६ नवम्बर, १९५३

शान्तिप्रिय द्विवेदी।

अनुक्रमणिका

प्रतिष्ठान

बाल्यस्मृति

जीवन की कहानी कहाँ से सुनाना आरम्भ करूँ? क्या वहाँ से जब एक भोले-भाले शिशु के रूप में, वात्सल्यमयी माँ की शीतल गोद में मैंने पहले-पहल अपनी नन्हीं-नन्हीं आँखें खोली थीं? नहीं, उन दिनों की तो बिलकुल याद ही नहीं। हाँ, यह याद है कि एक दिन रात के समय माँ का दूध पीने के लिए मैं बहुत मचल पड़ा था, तब बड़ी बहिन ने समझाया था—आज माँ की तबीयत अच्छी नहीं है, उसके पास मत जाओ भाई!

किन्तु दूसरे ही दिन तो माँ की मृत्यु हो गई। मैं तब तक यही जानता था कि लुल्लू—(बचपन में मैं साँप को इसी नाम से पुकारता था)—के काटने से ही लोग मरते हैं। मैंने मकान मालिक से कहा—चाचा जी, माँ को लुल्लू ने काट लिया है, लुल्लू को मार दीजिये।

'अच्छा बेटा, अच्छा'—कह कर उन्होंने मुझे फुसला दिया।

तब से माँ का वह प्यारा मुख मैंने कभी नहीं देखा। अब ज्यों-ज्यों बड़ा होता जाता हूँ, उसे देखने के लिए भीतर ही भीतर छटपटा उठता हूँ, सोचता हूँ—मेरी माँ कैसी रही होगी!

माँ के मरते ही बड़ी बहिन ने संसार को चारों ओर से अन्धकारमय देखा, उसके सामने मेरे और अपने जीवन की विकट समस्या थी। विकराल दैत्य-सा मुँह बाये हुए निर्म्मम संसार अट्टहास कर रहा था, जिसके आतङ्क से उसकी आँखों के आँसू रोके नहीं रुकते थे। अगर मैं उसके जीवन की विकल उत्तप्त गाथा किसी तरह लिख सकता.........

हाँ, कुछ-कुछ याद पिता जी की आती है। उस समय तक भी मैं अनजान बच्चा ही था। जब मैं घर के सामने विशाल वट वृक्ष के नीचे खेला करता, उस समय वे कभी कभी आकर मुझे प्यार कर जाया करते थे। कभी चुमकारते, कभी पुचकारते, कभी खिलाते।

किन्तु मैं उनसे घबड़ा कर भाग जाता था, क्योंकि लोग उन्हें पागल कहते थे।

हाँ, वे पागल ही थे, क्योंकि वे उस संसार से विरक्त हो चुके थे, जिसमें मैं अभी-अभी प्रवेश करने के लिये आया था। वे अहर्निश भगवान के ध्यान में डूबे रहते। उनका शरीर इस पृथ्वी पर रहता, किन्तु वे सन्त कवियों की तरह न जाने कहाँ-कहाँ विचरते रहते। संसार के कोलाहल से दूर, एकान्त तपोवन में आँखें खुलने पर वे देखते उन्हें चारों ओर पशु पक्षी घेरे हुए बैठे हैं! अहा, क्या वही उनका परिवार था? शायद इस भीषण मायावी जगत की अपेक्षा वे ही उनके प्रिय सुहृद् थे।

वे प्रायः मौन रहते, प्रायः हाथों के सङ्केत से ही अपने अभिप्राय को प्रकट करते थे। उन्हें बहुत बोलना पसन्द नहीं था। कभी कभी वृक्षों की डाली पर से जब कोई पंछी कलरव करते हुए उड़ पड़ता, तब वे भी उसका साथ देने के लिए बोल उठते—देखो देखो,

यह क्या कहता है।'—एक जिज्ञासु की तरह वे उसे उड़ते हुए देर तक देखते रह जाते। किन्तु पंछी की बोली की तरह लोग उनकी बातों को भी नहीं समझते।

अपने हरे-भरे एकान्त तपोवन में वे कभी-कभी मुझे भी ले जाते। कहते—'बेटा, इस तरह पालथी मार कर राम राम कहो।' मैं वैसा ही करने लगता। वे तो पद्मासीन होकर राम नाम में निमग्न हो जाते और मैं इधर-उधर मिट्टी में फेंके हुए पैसे ढूँढ़ने लगता। पैसे मिलते ही मेरी खुशी का ठिकाना नहीं रहता। मैं पतङ्ग खरीदने के लिए चुपचाप बाजार चल देता।

परन्तु दूसरे दिन वे फिर पकड़ ले जाते, कहते—'कल तू कब भाग गया रे?'

हाँ, वे विरक्त थे, परन्तु मैं धीरे धीरे आसक्त संसार में प्रवेश कर रहा था। उस समय मैं उनका मूल्य नहीं जानता था, और आज? हाय वे एक बार फिर ज्यों के त्यों लौट आते, मैं देखूँ, मेरे पिता कितने महान् थे! जितने दिन वे इस पृथ्वी पर रहे, मैं उनसे भागता फिरा, तब मैं इन सांसारिक आँखों से उस अलौकिक महात्मा को पहिचान नहीं सका। आह, एक बार फिर वे आ जाते......

❀ ❀ ❀ ❀

कुछ दिनों बाद मैं अपने पिता की जन्मभूमि देहात में चला गया। वहाँ कृषक बालसखाओं के साहचर्य्य में शहर को एकदम भूल गया और भूल गया माता का बिछोह, पिता का स्नेह, बहिन का क्रन्दन! किन्तु वह निश्चिन्तता, वह भूलना कितने कितने दिनों के लिए था!

बहिन को मुझे पढ़ाने-लिखाने की बड़ी चिन्ता थी। गाँव से दो मील दूर, एक स्कूल में ककहरा सीखने के लिए मैं कभी कभी जाता था, किन्तु अक्षर सीखने की अपेक्षा खेलने-कूदने तथा स्कूल के साथियों की नजर बचा कर किसी बड़े पेड़ के घने पत्तों की ओट में छिप जाने में मुझे अधिक आनन्द मिलता था। फिर भी, जब मैं स्कूल जाने के लिए किसी तरह गिरफ्तार कर लिया जाता, तब एक भागे हुए मुलजिम की तरह सिर नीचा किये हुए बड़े लड़कों की चौकसी में स्कूल की ओर चल पड़ता था।

देहात के वे दिन जो दुःखमय होकर भी बहुत मधुर थे, अब भी स्वप्नचित्र की तरह आँखों के सामने मूर्त्तिमान हैं—वह पेड़ की डालों पर ओला पाती खेलना, वह सखी-सखाओं के साथ बगीचे में आमों की रखवाली करना, वह बरसात में बढ़ी हुई सरजू नदी में नाव के साथ साथ नङ्गे तैरना!—

उन दिनों को याद कर आज रह-रह कर मेरे मन में भी यही हूक उठती है—

ऊधो! मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं
हंससुता की सुन्दर कगरी अरु कुञ्जन की छाहीं
वे सुरभी, वे बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं
ग्वाल बाल सब करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाँहीं
यह मथुरा* कञ्चन की नगरी मणि मुक्ताहल जाहीं
जबहिं सुरति आवत वा सुख की जिय उमगत, तनु नाहीं

प्रयाग,
सन् १९३४

---

* राजनीतिक नागरिक जीवन का प्रतीक।

पथ-सन्धान

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद (सन् १९१९) में देहात से नगर में आया था। दूसरे महायुद्ध के बाद देहात और नगर की संक्रान्ति-कालीन परिस्थितियों से गुजर रहा हूँ।......

देहात से जब नगर में आया था, तब शैशव पार कर किशोरावस्था में प्रवेश कर रहा था। दुर्बल शरीर, बधिर श्रवण, भाव-प्रवण हृदय, स्वप्निल अन्तःकरण! सामाजिक स्थिति साधारण होते हुए भी संसार सुहावना लगता था। पृथ्वी पर पैर रहते हुए भी भौतिक प्रभाव मन पर नहीं पड़ा था। माँ की गोद में शिशु जिस तरह किलकता-पुलकता है, अपनी ही नीरव अनुभूतियों में आत्मनिमग्न रहता है, उसी प्रकार सौन्दर्य्य और कल्पना की देवी—तपस्विनी बाल-विधवा बहिन के स्नेह-सुखद संरक्षण में अपनी भावना के जगत् में आत्म-विभोर रहता था। अहा, उस समय चारों ओर का वातावरण कितना कलरव-मुखरित था! प्रकृति के प्रभात-संगीत की तरह ही पृथ्वी के अजिर से कोई स्वर्गिक स्वर श्वसित होकर मन को अपने सरगम में बाँध लेता था। तब विश्व का कोलाहल भी मृदुल हो जाता था।

कैशोर्य्य के नव-किसलय-कलेवर में वह था मेरा अन्तर्मुख अनजान शैशव!—

"प्रथम स्वप्न उसमें जीवन का
रहता है अविकच, अज्ञान;
जिसे न चिन्ता छू पाती है
जो है केवल अस्फुट गान !"

शैशव की भाव-प्रवणता ने ही मुझे साहित्यिक बना दिया। मेरे पैरों के नीचे कठोर धरती थी, उस पर शुष्क लोहे, कङ्कड़, पत्थर से उठी हुई अट्टालिकाएँ थीं। चारों ओर स्वार्थों का संसार अपने जघन्य व्यापार में लगा हुआ था। किन्तु मैं अपने ही मनोलोक में भ्रमण करता रहा। जीवन की स्थूल आवश्यकताएँ भी मुझे लोलुप और लोकपटु नहीं बना सकीं। गङ्गा की तरल धारा और आकाश की निर्म्मल नीलिमा ने मेरे हृदय की नैसर्गिक कोमलता को बनाये रखा। देहात से नगर में आने के पाँच वर्ष बाद ही (सन् १९२४ में) मैं कवि हो गया। कविता लिखने लगा छायावाद में। क्या उसी में मेरे स्वभाव का सामञ्जस्य हो गया ?

माँ के स्तनों से दूध पीने वाला और बचपन में दिगम्बर घूमने वाला शिशु कालान्तर में अन्न-वस्त्र की आवश्यकता से प्रेरित होकर जैसे लोकोद्यम के लिए विवश हो जाता है वैसे ही मैं भी जीवन-यापन के लिए कवि से लेखक हो गया। लेख लिख-लिख कर सांसारिक कुशल-क्षेम चलाने लगा। लेखन-वृत्ति आकाश-वृत्ति थी। उससे जो मिल जाता उसे ही सौभाग्य समझता था। ऐसी आर्थिक चेतना मुझमें नहीं थी कि अपने से अधिक भाग्यशालियों के भाग्य का अपने को भागीदार समझता और उनसे विद्वेष और प्रतिस्पर्द्धा करता। मैं भीतर कवि और बाहर (समाज में) ब्रह्मजीवी था।

सन् १९३४ में जब मेरी पहिली समालोचनात्मक पुस्तक ('हमारे साहित्य-निर्म्माता') प्रकाशित हो रही थी, उस समय मैं सांसारिक दृष्टि से कितना अबोध था इसका आभास इस बात से मिल सकता है कि किसी मित्र के यह सुझाने पर कि उसे रायल्टी पर प्रकाशित कराऊँ, मैं समझ नहीं सका कि कापीराइट और रायल्टी में क्या फर्क है! मेरे सामने रोज कुआँ खोदने और पानी पीने जैसी जीवन-समस्या थी। रायल्टी की प्रतीक्षा वही कर सकता है जिसके घर में जीने का साधन हो।

जीवन की समस्या कठिन होते हुए भी एक ओर मैं साहित्य लिखता था, दूसरी ओर अपने स्वभाव में भावुक किशोर ही बना रहा।

एक-एक कर कितनी किताबें प्रकाशित हुईं, किन्तु कभी भी मेरे मन में वयोचित बड़प्पन नहीं आया। अपने बाद की उगती हुई पीढ़ी के लिए मैं बुजुर्ग नहीं बन सका—(नाम बड़े, दर्शन थोड़े की कहावत मेरे लिए ही बनी होगी।)—स्वभावतः मैं लड़कों से भी अधिक लड़का हो गया। उस समय मेरी वात्सल्यमयी बहिन (कल्पवती देवी) जीवित थी। उसी के सरल, उज्ज्वल, प्रेमल व्यक्तित्व के अञ्चल में मेरा शैशव अक्षुण्ण चलता रहा।......

मार्च, सन् १९३९ में बहिन का देहान्त हो गया। उस समय दूसरे विश्वयुद्ध की भूमिका प्रारम्भ हो गयी थी। युद्ध की लोक-व्यापी अशान्ति बाद में फैली, उसके पहिले ही चिरदुःखिनी बहिन की चिता की लपटों की आँच पाकर मेरा जीवन प्रज्ज्वलित हो गया। शैशव के भावुक हृदय को सामाजिक विषमता का पहिली बार आभास मिला। मैं रुद्ध स्रोत की तरह उफन पड़ा। उस समय सोवियट रूस के प्रभाव से देश में समाजवाद का कण्ठ फूट

पड़ा था। मेरे संज्ञाशून्य मर्माहत हृदय का विक्षोभ उसी में प्रतिध्वनित हो उठा। मैंने 'युग और साहित्य' लिखा।......

शिव के ताण्डव की तरह धीरे-धीरे मेरा विक्षोभ शान्त हो गया। मुझमें प्रकृतिस्थता आ गयी। बहिन की जो विकल स्मृति उच्छ्वास बन कर बाहर निकल जाती थी, वह भीतर की सञ्जीवनी शक्ति बन कर अतलव्यापी गम्भीरता में परिणत हो गयी। मुझमें बड़वानल का असन्तोष नहीं था। बहिन के जीवन-काल में, उसके स्नेह-स्निग्ध वातावरण में, मैंने 'सञ्चारिणी' लिखी थी सङ्गीतमयी भाषा में। वह भाषा सूख नहीं गयी, भीतर की गम्भीरता की ललित भङ्गिमा बन कर वह मेरे जीवन और साहित्य में लहराती रही।......

भावोन्मेष (हृदयोन्मेष) के लिए छायावाद और उसे जीवन का आधार देने के लिए मैं गान्धीवाद को साहित्य में वाणी देने लगा। 'युग और साहित्य' के बाद 'सामयिकी', 'पथचिह्न', 'धरातल', 'ज्योतिविहग', 'परिव्राजक की प्रजा' ये सब मेरी लेखनी के श्रद्धा-प्रसून हैं, प्राणित्व की पूजा के फूल हैं।

छायावाद और गान्धीवाद कहने से मेरे मनोजगत् का पूर्ण परिचय नहीं मिलता। मैं तो इनसे बहुत पीछे के युग से चला आ रहा हूँ। मैं हूँ पौराणिक पथिक। सृष्टि के क्रम-विकास में एक है वन्य युग, दूसरा है तपोवन-युग। इन दोनों युगों का लोप नहीं हुआ। सम्प्रति वन्य युग के बर्बर मानव का प्राधान्य है, तपोवन का तापस हृदय किन्हीं श्रद्धालुओं के अन्त:संस्कारों में ही अदृश्य हो गया है। मेरे संस्कारों की रक्त-परम्परा तपोवन के युग की है। मैं आधुनिक (वैज्ञानिक) युग का समकालीन नहीं हूँ, मध्ययुग (सामन्त-युग) का प्रतीक नहीं हूँ, मैं तो हूँ उस

चेतना-प्रधान युग का वंशधर जिसने ज्ञान-विज्ञान से ऊपर उठ कर 'खल्विदं ब्रह्म' को हृदयङ्गम किया था, 'सर्वभूतेषु' की कल्याण-कामना की थी, आर्ष संस्कारों को समाज में मूर्त्त किया था, सात्त्विक लोकोद्यम को आशीर्वाद दिया था। पिता अनिकेतन संन्यासी, बहिन मृणमयी पृथ्वी पर चिन्मयी सरस्वती; साहित्य में मैं उन्हीं की पदरेखा हूँ। छायावाद और गान्धीवाद मेरे वर्त्तमान अस्तित्त्व के किञ्चित् परिचायक हैं।

गोमुख से प्रवाहित स्रोत की तरह अपने कृशकाय कलेवर में साहित्य के माध्यम से मैं आर्ष युग का क्षीण प्रतिनिधित्व कर रहा हूँ। कब तक? नदियाँ सूखती जा रही हैं, ऋतुएँ वन्ध्या होती जा रही हैं। यह है यन्त्र-प्रखर प्रगतिशील युग। इस युग में आकर आप्रयुग के आस्थावानों के लिए लोक-प्रवास परदेश बन गया है। श्री महादेवी वर्म्मा कहती हैं—"इस भौतिकता के कठोर धरा-तल पर, तर्क से निष्करुण जीवन की हिंसा-जर्जरित समष्टि में आये हुए युग को देख कर स्वयं कभी-कभी मेरा व्यथित मन भी अपनी करुणा भावना से पूछना चाहता है—अश्रुमय कोमल कहाँ तू आ गयी परदेशिनी रे!"

...बहिन तो इस निर्म्मम युग के मर्म्मान्तिक वातावरण से तड़फड़ा कर अपने गोलोक में चली गयी, मैं ही इस भूलोक में उसके व्यथित निश्वासों का एक सर्वहारा साक्षी बन कर रह गया।

❀ ❀ ❀ ❀

दूसरा महायुद्ध आया। पूँजीवाद की चट्टानों में ज्वालामुखी की तरह विस्फोटित होकर, समुद्रों में ज्वार की तरह उमड़ कर, पृथ्वी पर वात्याचक्र की तरह घुमड़ कर, अतल-वितल-पाताल को

भूकम्प की तरह डाँवाडोल कर, प्रलय वेग से चला गया। वह अपने पीछे कैसा सर्वनाश छोड़ गया!......

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जब देहात से नगर में आया था, तब उस युद्ध के दुष्परिणामों का अनुभव नहीं कर सका। इसका कारण क्या यह है कि उस समय मैं सांसारिक दृष्टि से सर्वथा अबोध शिशु था अथवा यह कि प्रथम विश्वयुद्ध से संसार में अकाल और शोषण इतने तीव्र रूप में नहीं फैला था जितने नग्न रूप में दूसरे महायुद्ध के बाद फैल गया? इनमें से कोई भी कारण मेरे लिए पर्य्याप्त नहीं है। अकाल और शोषण तो युग-युग से चला आ रहा है। प्रत्येक युग में किसी न किसी का शैशव भी जन्म लेता रहा होगा। जहाँ जीने का साधन नहीं है वहाँ खाने-कमाने के लिए शैशव में ही शिशुओं को सयाना बन जाना पड़ता है; उनमें कटुता, वक्रता और लोकपटुता आ जाती है। भावना का जगत् उनकी माँ के गर्भ के साथ ही छूट जाता है, नाल के मृणाल-तन्तु की तरह। गाँव में किसानों के और नगरों में मजदूरों के लड़के जनमते ही चतुर हो जाते हैं। अभाव उन्हें असमय ही सयाना बना देता है।

प्रथम महायुद्ध के बाद की परिस्थितियों में देहात से नगर में आकर भी यदि मैं शिशु ही रह गया तो इसका कारण शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक है। मेरे कृश शरीर की स्नायुओं में वीणा के पतले तारों की कोमलता है, पारिवारिक प्रतारणा से सहम कर मैं बचपन में ही संकोची हो गया, कानों की अल्पश्रुति ने मुझे संसार के बात-व्यवहार को सुनने-गुनने नहीं दिया, गाँवों की निसर्ग-शोभा ने मुझे भावुक बना दिया, मैं आत्मस्थ और एकान्त-वासी हो गया। जिस बाल-विधवा तपस्विनी बहिन की स्नेह-

छाया मिली उसका तो जीवन ही एक सजल करुणा-काव्य था। महादेवी जी के शब्दों में—

> विरह का जलपात जीवन, विरह का जलजात!
> वेदना में जन्म, करुणा में मिला आवास;
> अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात;
> जीवन विरह का जलजात!

ऐसी बहिन के सान्निध्य में मेरा हृदय भी चिरसजल ही रह गया। बहिन की साधना में जिस पिता की तपश्चर्य्या और आर्य्य-बालाओं की सांस्कृतिक निष्ठा थी, उसी की विरासत मुझे भी मिल गई। मातृवञ्चित गोवत्स-जैसे मेरे सूने मुख पर युगों के शोषण और तपश्चरण का उदास इतिहास है।

...बहिन अपनी कोमलता में भी पुरुषार्थवती थी। पृथ्वी की कठोरता ने उसमें एक शक्ति उत्पन्न कर दी थी। देहात से जब मैं अपने बाल्यसंस्कारों को सँजो कर नगर में आया तब उसने मेरे जीवन-प्रदीप को अभावों के आघात से एकाएक बुझ नहीं जाने दिया। देशकाल के अन्धड़ और तूफ़ान को स्वयं झेल कर अञ्चल की ओट में उसने मुझे अपनी लौ से जगमगाने दिया। मुझमें मेरे प्रारम्भिक संस्कार ही बद्धमूल हो गये, यही सर्वोपरि कारण है कि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद मैं उसके प्रभाव से अछूता रह गया।...

श्रवण से श्रुतिमन्द होते हुए भी मेरे लिए वाणी दृगों के द्वार से ही सुलभ हो सकी (क्या आपके हँसने के लिए कहूँ, मैं चक्षुश्रवा हूँ!) मेरी मणिज्योति मेरे भीतर थी, वह पूर्वजों की प्रज्ञा थी। उसी के प्रकाश में मैं साहित्य की साधना करने लगा।......

दूसरे महायुद्ध के बाद की परिस्थितियों में मैं बिलकुल अकेला

पड़ गया। मेरे लिए समाज का अस्तित्व कभी नहीं था, क्योंकि समाज जिन स्थापित स्वार्थों का समूह है, मैं उसका अङ्ग नहीं बन सका। मेरी भावुकता और बहिन की माया-ममता ने मुझे वास्तविकता की ओर देखने का अवसर नहीं दिया। किन्तु मैं बहिन के जीवन-काल में ही अकेलापन अनुभव करने लगा था। बहिन से मुझे वात्सल्य मिलता था किन्तु समाज से कोई रस-पोषण नहीं मिलता था। उस समय मैं इसका कारण नहीं समझ पा रहा था। आज कारण (राजनीतिक और आर्थिक कारण) समझ जाने पर भी जैसे अकेला हूँ, वैसे ही उस समय भी अकेला ही था।

नीरस वास्तविकता का भुक्तभोगी होते हुए भी अग-जग से अनजान रह कर मैं भावना की आँखों से ही जीवन और साहित्य को देखता-परखता रहा। छायावाद के साथ मेरा भावसाम्य तो था ही, इसके बाद आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से गान्धीवाद के साथ मेरा विचार-साम्य भी हो गया। 'सामयिकी' से साहित्य में मैंने गान्धीवाद का दृष्टिकोण उपस्थित करना प्रारम्भ किया, जो उत्तरोत्तर मेरी अन्य रचनाओं में प्राञ्जल और सुस्पष्ट होता गया है।

जिस तरह अन्य श्रमजीवियों के सामने आर्थिक कठिनाइयाँ आती हैं उसी तरह मेरे सामने भी। मेरी कठिनाइयाँ इसलिए और भी कठिन हैं कि मैं केवल आर्थिक लाभ के लिए साहित्य नहीं लिख सकता। एक बार हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष स्वर्गीय केशवप्रसाद मिश्र ने किसी पाठ्यपुस्तक की टीका लिख देने के लिए कहा। इसमें बहुत आर्थिक लाभ था। मैंने कहा—पण्डित जी, टीका तो कोई भी लिख देगा, मेरा काम कौन करेगा! पंजाब के एक प्रकाशक ने हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिख देने के लिए कहा। काफ़ी प्रलोभन दिया। मैंने कहा,

मुझसे यह काम नहीं हो सकेगा। मैं वही काम कर सकता हूँ जिसमें मुझे आन्तरिक प्रेरणा हो।

मैं व्यापारिक युग का अर्थजीवी नहीं हूँ। वर्त्तमान परिस्थिति में दारिद्र्य को स्वेच्छा से अपने जातीय स्वभाव (ब्राह्मण-स्वभाव) से ग्रहण कर लिया है। मैं उसी आर्थिक कार्य्यक्रम को पसन्द करता हूँ जिससे सांस्कृतिक उत्थान हो सके। इस दृष्टि से गान्धीवाद में ही मुझे अर्थनीति और संस्कृति की अभिन्नता मिलती है।

अविवाहित होते हुए भी मेरा स्वभाव गार्हस्थिक है। गृहस्थी बनाने और उसे चलाने के लिए जिस प्रचलित अर्थशास्त्र से स्वभाव को विकृत बनाना पड़ता है, उसे मैं स्वीकार नहीं कर सका; इसीलिए अनिकेतन और अविवाहित ही रह गया। समाज में अकेला पड़ गया। मेरी स्थिति उस 'सन्ध्या-तारा' की सी हो गई जिसके लिए कवि ने कहा है—

> "एकाकीपन का दुसह भार
> इसके विषाद का रे न पार।"

पञ्चभूतों से बँधा मेरा कलेवर भी रोटी और सेक्स चाहता है। इन दोनों का स्वस्थ उपभोग गार्हस्थ्य में ही हो सकता है। गार्हस्थ्य के अभाव में रोटी के लिए भोजनालय और सेक्स के लिए वेश्यालय है। इन दोनों से मुझे सख्त नफ़रत है; इनमें सुरुचि नहीं, स्वच्छता नहीं, स्वस्थता नहीं, पवित्रता नहीं, संस्कृति नहीं। ये समाज के गार्हस्थिक निर्म्माण को निर्मूल करते हैं। मेरे जीवन का यह कैसा नारकीय अभिशाप है कि जिन चीज़ों से मैं दूर भागता हूँ, उन्हीं से मुझे जीवन जुगोना पड़ता है। जीवन तो मिलता नहीं, मैं उस पौधे की तरह मुरझाया रहता हूँ जो अस्वाभाविक वातावरण में पनप नहीं पाता। बचपन में माँ का दूध नहीं मिला,

वयस्क होने पर समाज से पोषण नहीं मिला। मेरे चुचके-पुचके गाल अभावों के गह्वर बन गये हैं।......

वेश्यालय में जाना अनैतिक समझा जाता है, भोजनालय में जाना आवश्यक। किन्तु वेश्यालय और भोजनालय दोनों ही अनैतिक हैं। जिस व्यावसायिक अर्थशास्त्र ने समाज में वेश्याओं और भिक्षुओं को उत्पन्न किया, उसी ने बाजार में भोजनालयों को भी बनाया। प्रगतिवादी वेश्याओं और भिक्षुओं को तो साफ कर देना चाहते हैं, किन्तु भोजनालयों को बनाये रखना चाहते हैं। रेस्टुरेन्ट और होटल से उन्हें परहेज नहीं। उनका आर्थिक दृष्टिकोण एक ओर बाजारूपन को बनाये रखना चाहता है, दूसरी ओर उसके दुष्परिणामों को नेस्तनाबूद करना चाहता है! यह कोई नैतिक (सांस्कृतिक) दृष्टिकोण नहीं है।

वस्तुतः समाज में गार्हस्थ्य है कहाँ? जो गृहस्थ हैं वे भी वेश्यालयों में जाते हैं, दूकानों पर चाट खाते हैं। विकृत अर्थशास्त्र ने सबकी रुचि को ऐसा ही विकृत कर दिया है। इस आर्थिक युग का सम्पूर्ण जीवन ही एक सामाजिक विडम्बना बनता जा रहा है। भारतीय समाज की बुनियाद गृह-साधना थी। अब पश्चिम के प्रभाव से साधना लुप्त होती जा रही है, जीवन एक यान्त्रिक व्यापार बनता जा रहा है। श्री करपात्री जी कहा करते हैं— अदालतों में विवाह करना, होटलों में खाना, अस्पतालों में मर जाना, यही आधुनिक जीवन है।

धर्मप्राण बहिन का देहान्त अस्पताल में ही हुआ—(यह बहुत बड़ी ट्रेजडी है)! यदि देहात में पूर्वजों की थोड़ी-सी भूमि न होती तो कौन जाने मृत्यु की तरह उसका जीवन भी कितना निराधार होता! नगर में अपना कोई घर न होने के कारण उसे

बार बार दूसरों का घर छोड़ना पड़ता था। यह उसका सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्ष था। असुविधाओं में भी वह जीवन को अपनी सुरुचि, सचाई और श्रद्धा से सञ्चालित करती थी; अपने आचार-विचार से जीवन को एक भक्ति-काव्य बना कर प्रवाहित करती थी। जिन्हें घर-द्वार था, उनमें गृह-साधना नहीं थी; जिसमें साधना थी उसे घर-द्वार नहीं था। मध्ययुग और आधुनिक युग की आर्थिक व्यवस्था का यही निरर्थक निष्कर्ष है।

मेरी स्थिति यह है कि अस्वाभाविक आधुनिक जीवन को मैं भी बहिन की तरह ही, अङ्गीकार नहीं कर सकता। सद्गृहस्थों का-सा जीवन चाहते हुए भी मिल नहीं पाता। मन्दिरों, मठों, धर्मशालाओं से पुण्य सञ्चय करने वाले पूँजीवाद से मुझे इतना दाक्षिण्य नहीं मिल सकता कि मैं भी किसी सुदामा की गृहस्थी जोड़ सकूँ। मध्य वर्ग अभावग्रस्त है, जो उसके अभावों को दूर कर सकता है वही उसके साथ चल सकता है।

आज जिस घर में रहता हूँ वह मेरी फुफेरी बहिन का घर है। विश्वनाथ जी के मन्दिर में पण्डागिरी करके फुफेरी बहिन के पति ने घर-द्वार बना लिया था। वह वर्त्तमान दुर्भिक्ष-युग के पूर्व का जमाना था। अपनी कमाई से वे 'पेटी बुर्जुआ' बन गये। उनके देहान्त के बाद घर की शोभा-श्री समाप्त हो गई। घर में कोई कमा कर गृहस्थी चलाने वाला नहीं। दो लड़के, दोनों निकम्मे। शादी हो नहीं सकी। उन्हें नशा चाहिये, मौज-मजा चाहिये। उनकी विधवा माँ को अभावों ने कूटनीतिज्ञ बना दिया। अब वह मेरा ही शोषण करके अपनी गृहस्थी चलाती है। कहता हूँ—किराया ले लो, तो जवाब देती है—रिश्तेदार से किराया नहीं लेती। कहता हूँ—मकान मेरे नाम लिख दो तो तुम्हारे बाद भी तुम्हारी स्मृति बनाये रखूँगा। वह कहती है—यह कैसे हो सकता है, मकान तो लड़कों के नाम है।

मतलब यह कि वह अपना कुछ नहीं देना चाहती, मेरा सब कुछ ले लेना चाहती है। मेरा शोषण करके भी मुझ पर अपना एहसान लादती है। मैं ठहरा लेखक, अपने लेखन-कार्य्य में व्याघात न पड़ने देने के लिए चुपचाप सब कुछ सहता जाता हूँ। कहाँ जाऊँ? कहीं किराये पर रहूँ तो भोजन की सुविधा नहीं। अपनी रुचि से समझौता करके किसी भोजनालय में भोजन करूँ तो रहने की अनुकूल व्यवस्था नहीं। जब घर में यह हाल है तो फिर बाज़ार तो बाज़ार ही ठहरा! यदि मध्यम श्रेणी की किसी दूसरी गृहस्थी में आश्रय लूँ तो वहाँ के अभावों में भी तो शोषण ही होगा। अपने हाथ भोजन बनाना नहीं जानता। यदि जानता तो भी लेखन-कार्य्य के साथ वह सध नहीं सकता। इतनी आमदनी नहीं कि सेवक रख कर अपनी स्वतन्त्र व्यवस्था कर सकूँ। मुझे चाहिये गृह और गृहिणी। मुझे चाहिये जीने के लिए साधन।......

बहिन के जीवन-काल में भी पूँजीवाद था, शोषण था। किन्तु मैंने कभी शोषण का अनुभव नहीं किया, क्योंकि मैं सार्वजनिक रूप से शोषित था, पारिवारिक रूप से बहिन की माया-ममता से परिपोषित था, अग-जग से अनजान था। उसकी आत्मीयता का अञ्चल तिरोहित हो जाने पर भी शोषण का अनुभव शीघ्र नहीं कर सका। अब दूसरे महायुद्ध के बाद की आर्थिक परिस्थितियों में शोषण का अनुभव पग-पग पर करने लगा हूँ। फिर भी मैं व्यावसायिक युग का अर्थलुब्ध प्राणी कहाँ बन सका? आज भी मेरा अन्तःकरण मेरे कुरते के बटन की तरह ही खुला हुआ है। मैं जीवन में कोई गाँठ लगा कर नहीं चलना चाहता, इसीलिए सांसारिक लोग मुझसे प्रवञ्चना करते हैं।

आज मैं तिहरे शोषण से शोषित हो रहा हूँ। पूँजीवाद तो

सब की तरह मेरा भी शोषण कर ही रहा है; मध्यमवर्ग भी मेरे-जैसे श्रमिक का शोषण करके ही जी रहा है। मेरे ऊपर केवल फुफेरी बहिन का ही भार नहीं है, गाँव में खेती करने वाले फुफेरे और चचेरे भाई भी अपनी आर्थिक असुविधा मुझी से दूर करना चाहते हैं। बहिन जब जीवित थी तब इसी तरह उसका भी शोषण हो रहा था—(तब मैं उसके कष्टों को भला क्या जानता था) ! जब वह चली गयी तो इन रिश्तेदारों के शोषण का केन्द्रविन्दु मैं बन गया। आज यदि तन, मन, धन से लाचार हो जाऊँ तो इन रिश्तेदारों में से कोई भी मेरे कष्ट में काम नहीं आयेगा। फिर भी मेरा हृदय अनुदार और कठोर कहाँ बन सका ! वह किसी का दुःख देख नहीं सकता, आर्द्र हो जाता है। दूसरे महायुद्ध के बाद की आर्थिक परिस्थितियों में भी मैं वैसा ही भावुक और संवेदनशील हूँ जैसा प्रथम विश्वयुद्ध के बाद देहात से नगर में आने पर था। यद्यपि मेरा जीवन इस आग्नेय युग का हुताशन है, तथापि मेरा स्वभाव व्यक्तिगत नहीं, उस आत्मस्थ युग का प्रतिफल है जिसकी परम्परा अभी निःशेष नहीं हो गयी है। मेरा स्वभाव शायद बदल नहीं सकता। जीवन के कटु अनुभवों में यथार्थ से मैं अवगत हो गया हूँ; सभ्यता, संस्कृति, कला, मानवता, आदर्शवादिता के छल-छद्म को समझ गया हूँ; किन्तु कभी मैंने इन्हें हार्दिक रूप में पाया है, मैंने भी माँ-बहिनों का सांस्कृतिक मुख देखा है, इसीलिए आज भी मुझमें भावना और समवेदना शेष है।......

पूँजीवादी और मध्यमवर्गीय शोषण के अतिरिक्त, अपना तीसरा शोषण मैं स्वयं कर रहा हूँ, लेखन-कार्य्य द्वारा। कलम के होल्डर की तरह ही मेरा दुबला-पतला शरीर है। स्याही की बूँदों में मेरी स्नायुओं का रक्त ही मेरा साहित्य बन जाता है।

अपने श्रमिक-जीवन में मैं हरिजन हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ :

प्रातःकाल उठते ही हाथ में भाड़ू लेकर सफाई करता हूँ। तनिक सी भी गन्दगी, तनिक-सी भी कुरुचि, तनिक-सी भी असङ्गति से मेरा मन खिन्न हो जाता है।—(ऐसा ही तो बहिन का भी स्वभाव था)। मैं सौन्दर्य्योपासक हूँ। मेरा सौन्दर्य्य-बोध आकृति-प्रकृति-संस्कृति में मनुष्य की चेतना का दर्शन करना चाहता है। चेतना कहीं मिलती नहीं, इसीलिए सौन्दर्य्य, संस्कृति और कला की दृष्टि से मैं अतृप्त हूँ। राह में जब चलता हूँ तो कुरुचि, कुरूपता और अस्पृश्यता को बाएँ छोड़ देना चाहता हूँ। किन्तु जनता ऐसी भेड़ियाधसान और बेतरतीब है कि जीवन-पथ को सौन्दर्य्य और संस्कृति की वीथिका बना कर चल नहीं पाता। मेरी सुरुचि को पग-पग पर ठेस लगती है। हृदय मोच खा जाता है। मन मायूस हो जाता है। कवि जिस तरह अपने मनोनुकूल शब्दों को चुन-चुन कर गीत काव्य बनाता है उसी तरह (यदि मेरा वश चलता तो) अपनी प्रिय छवियों को सुरुचि से एकत्र कर सुन्दर समाज बना लेता।—एक सहृदय प्रेमल समाज। इसी उद्देश्य से क्लब बनाये गये हैं, किन्तु वह तो आधुनिक सभ्यता के कूड़ाखाना हैं जहाँ लोगों के राग-द्वेष, लाग-डाँट, अहङ्कार और फैशन का जमावड़ा होता है।

अपने मनोजगत् को प्रत्यक्ष करने के लिए साहित्य की रचना करता हूँ। लेखनी मेरे ब्राह्मणत्व का प्रतीक है। लिखते समय मानों समाधिस्थ हो जाता हूँ। अग-जग से निःसंग होकर अपने-आप में डूब जाता हूँ। अपने तन-बदन की भी सुध बुध नहीं रहती। उस समाधि में इतना एकाग्र हो जाता हूँ कि किसी आगन्तुक की आहट अथवा किसी के स्पर्श से चौंक पड़ता हूँ। चिरपरिचित जगत् मेरे लिए ऐसा ही आकस्मिक और अपरिचित हो जाता है।

लिखते-लिखते मध्याह्न हो जाता है। ग्रीष्म में आकाश-पाताल

ज्वाला से धधकने लगता है। लेखन-कार्य्य स्थगित कर स्नान करने जाता हूँ। गङ्गातट एकदम निर्जन हो जाता है। कभी-कभी कोई संन्यासी, कोई वृद्धा विधवा, कोई कपोत, कोई जल-विहंग (बत्तख या हंस) उस समय तट पर मिल जाते हैं। क्या इन्हीं के साथ मेरे जीवन का सादृश्य है!

स्नान-ध्यान के बाद भोजन करता हूँ। सन् १६३४ से एकाहारी हूँ। पूँजीवाद के शोषण ने मेरी जठराग्नि मन्द कर दी। कभी इतनी भूख लगती थी कि लोहा-कंकड़-पत्थर कुछ भी खाकर उसे पचा लेने का हौसला रखता था। अब जो थोड़ा-सा खाता हूँ वह भी गरिष्ठ हो जाता है। यह स्वल्प एकाहार भी मेरे लिए कितना महँगा है।—बाजार से भी महँगा! एक पूरे मध्यम वर्ग का भरण-पोषण करके आहार पाता हूँ। जैसी मेरी दिनचर्य्या है वह बाजार के भरोसे चल नहीं सकती, जैसे नल के भरोसे मेरा स्नान नहीं हो सकता। थोड़ी-सी पारिवारिक सुविधा के लिए मुझे कितना मूल्य चुकाना पड़ रहा है!

भोजनोपरान्त शरीर श्लथ हो जाता है। सोकर उठता हूँ तो सन्ध्या हो जाती है। स्थगित लेखन-कार्य्य को आगे बढ़ाता हूँ तो दीपक जल उठते हैं। भ्रमण के लिए बाहर निकलता हूँ। बिजली की रोशनी में जगमगाता हुआ नगर एक तमाशा जान पड़ता है। वास्तविकता से अवगत हूँ, इसलिए बाहरी जगमगाहट में मुझे कोई आकर्षण नहीं। फिर भी मेले में घूमते शिशु की तरह इधर-उधर घूमता हुआ गङ्गातट पर जा पहुँचता हूँ। दशाश्वमेध घाट के किसी मढ़ी पर एकान्त में बैठ जाता हूँ। वहाँ मैंने भी—

> "कितनी निर्जन रजनी में
> तारों के दीप जलाये,
> स्वर्गङ्गा की धारा में
> मिलने की भेंट चढ़ाये।"

किन्तु जीवन में कवि-कल्पित मिलन-यामिनी तो कभी आयी नहीं।······

चारों ओर से मन को समेट कर उस एकान्त में अपनी लेखनी के लिए मनन-चिन्तन करने लगता हूँ। यदि जाड़े की रात हुई तो घर लौट कर फिर लेखन-कार्य्य करता हूँ। लेखन-कार्य्य मेरे लिए अर्थ, धर्म्म, काम, मोक्ष का साधन है। किन्तु उससे केवल धर्म्म और मोक्ष ही सधता है, अर्थ और काम तो दुर्लभ है। यदि मैं प्रगतिवादी अथवा पूँजीवादी होता तो वह सुलभ हो जाता।

···घर लौटने पर कोई पारिवारिक ममता नहीं—न बहिन का प्यार, न माता का वात्सल्य, न वधू का प्रणय, न बच्चों का आह्लाद। मेरी कुटिया सभी गार्हस्थिक सम्बन्धों से शून्य किसी योगी की गुफा है

एक-एक कर ऋतुएँ आती हैं चली जाती हैं। पर्व और त्यौहार आते हैं, चले जाते हैं। मेरे लिए ये सब केवल रूढ़ि रह गये हैं। न तो इनमें नवीनता मिलती है, न प्रसन्नता।—(क्या आज के युग में किसी को मिल रही है?)

आह, मेरा जीवन कितना भूखा-प्यासा है!—

"मेरा तन भूखा, मन भूखा,
मेरी फैली युग बाँहों में
मेरा सारा जीवन भूखा।"

जीवन की इतनी नीरसता में मेरे साहित्य में सरसता कैसे आ सकी?—वह तो मेरी अन्तरात्मा से उसी तरह निःसृत हुई है जैसे सिकता की शुष्क वास्तविकता में गोमुख से स्रोतस्विनी।

❀ ❀ ❀

कवि कहता है—

"वेदना विकल मेरी फिर आयी चौदहों भुवन में
सुख दिया कहीं न दिखाई, विश्राम कहाँ जीवन में !"

आज प्रत्येक व्यक्ति के भीतर से निराशा का यही निश्वास निकल रहा है। पूरब, पश्छिम, उत्तर, दक्खिन, सर्वत्र यही उच्छ्वास और क्रन्दन है। क्या यह आधुनिक युग का ही दुखद परिणाम है ? इसके पहिले से ही समाज में जो विषमता चली आ रही थी, कवि उसी का भुक्तभोगी होकर वस्तुस्थिति की पूर्वसूचना दे गया। यदि आज की तरह मध्ययुग में जनता को वाणी मिल सकी होती तो न जाने कितना करुण जन-साहित्य पुञ्जीभूत हो गया होता। क्रन्दन अरण्य में और उच्छ्वास आकाश में ही विलीन नहीं हो जाता। फिर भी लोकगीतों में वस्तुस्थिति का कुछ आभास मिल जाता है। उनमें यद्यपि प्रकृति का भावोल्लास है, तथापि वातावरण में वस्तुसत्य भी बोल रहा है।

मध्ययुग में विषमता इतनी स्पष्ट इसलिए नहीं हो सकी कि उस समय आर्थिक साम्राज्यवाद होते हुए भी जीवन अप्राकृतिक नहीं हो गया था, वह प्रकृति से पालन-पोषण पा रहा था। राजनीति खनिज धातुओं से अपनी आर्थिक सत्ता का सञ्चालन कर रही थी, समाज प्रकृति की उर्वरता से अपने जीवन और संस्कृति का विकास कर रहा था। वह युग वैज्ञानिक नहीं, धार्मिक था। अतएव, राजनीति पर भी संस्कृति का प्रभाव पड़ता रहा। राजनीतिक अर्थशास्त्र जड़धातुओं की तरह ही कृत्रिम और निष्प्राण था, अतएव, शासित जनता उसके प्रभाव से भी मुक्त नहीं रह सकी। वह शोषित थी। जहाँ तक प्रकृति के साथ उसके पुरुषार्थ का सम्बन्ध था, वहाँ तक जनता संस्कृति, कला,

काव्य और अपने सामाजिक निर्माण में किसी गृहस्थ की तरह व्यवस्थित थी। उसमें स्नेह, ममता, समवेदना और उदारता थी। किन्तु राजनीतिक अर्थशास्त्र के कारण उसके जीवन में व्यतिक्रम भी उपस्थित हो जाता था। जनता जब त्राहि-त्राहि करने लगती थी तब उसके अभाव और असन्तोष को धार्मिक दया-दाक्षिण्य से शान्त कर दिया जाता था, अथवा शस्त्र-बल से दबा दिया जाता था। सभी देशों में मध्ययुग का ऐसा ही दीन दलित इतिहास है। फिर भी वह कृषि और शिल्प का रचनात्मक युग था।

जीवन की धूप-छाँह में खिलता-मुरझाता मध्ययुग आधुनिक युग (वैज्ञानिक युग) में आ पहुँचा। मध्ययुग में राजनीति अपने अर्थशास्त्र से मनुष्य का शोषण करती थी, किन्तु प्रकृति अछूती थी। आधुनिक युग में यन्त्रों से प्रकृति का भी शोषण होने लगा। 'यह वैज्ञानिक युग प्रकृति-विजयी होने का दावा करता है। मनुष्य के शोषण से पौरुष का और प्रकृति के शोषण से पृथ्वी की उर्वरता का ह्रास हो गया। मध्ययुग में केवल मनुष्य के जीवन में व्यतिक्रम हुआ था, अब ऋतुओं में भी व्यतिक्रम हो गया है। न वह पावस है, न वह वसन्त, न वह शिशिर। नदियाँ निर्जल होती जा रही हैं, वन बियावान होते जा रहे हैं।...

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद मध्ययुग जड़-मूल से हिल गया, दूसरे महायुद्ध के बाद वह धराशायी हो चला है। आज चारों ओर अकाल फैला हुआ है, मुद्रागत कृत्रिम अर्थशास्त्र से जीवन को सन्तुलित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। रूस सर्वहारा की आवाज सुना रहा है, अमेरिका डालर उधार दे रहा है, भारत 'अधिक अन्न उपजाओ' का नारा लगा रहा है। चाहे रूस हो, चाहे अमेरिका, चाहे इंग्लैण्ड, चाहे भारत, संसार के किसी भी कोने में

मुद्रा और यंत्र से न जीवन पनप सकता है, न साहित्य, न कला, न संस्कृति, न भावना, न हार्दिकता।

यंत्र-युग (वैज्ञानिक युग) प्रकृति को किस तरह मिटाता जा रहा है, इसका एक छोटा-सा उदाहरण लीजिये। मेरी कुटिया के सामने बिजली का खम्भा है। कुटिया के ऊपर वटवृक्ष की शाद्वल छत्र-छाया है। इससे गर्मी में शीतलता मिलती है, इसके चौड़े पत्ते व्यजन की तरह हिलते रहते हैं। अब कभी मकानों की छत ऊँची करने और कभी बिजली के तारों का मार्ग बनाने के लिए इस वटवृक्ष की टहनियाँ और पत्तियाँ बेदर्दी से काट दी जाती हैं। यह जीवित पादप जीते जी जीवन्मृत होता जा रहा है। प्रकृति श्रीहीन होती जा रही है।

अकाल के साथ ही इस समय संसार में बढ़ती जन-संख्या का आतंक भी फैला हुआ है। कहा जाता है कि इस जमाने में पुराने तरीके से काम नहीं चल सकता। यन्त्रों से ही उत्पादन बढ़ाकर अकाल और जन-संख्या की समस्या हल की जा सकती है। विनोबा कहते हैं—पृथ्वी अकाल और जन-संख्या से उतनी त्रस्त नहीं है जितनी मनुष्य के दुर्गुणों से।

यदि यन्त्रोद्योगों (जैसे ट्रैक्टर से खेती) द्वारा किसी तरह उत्पादन बढ़ा भी लिया जाय तो आगे उर्वरा की उर्वर-शक्ति क्षीण हो जायगी। 'पथचिह्न' में मैंने कहा है—"मशीन द्वारा खेती करना फूँका द्वारा गौ का दुग्ध-दोहन करना है। अत्यधिक उत्पादन के लोभ में मशीनों द्वारा पृथ्वी की उर्वरा-शक्ति का दोहन करने से वह शुरू में अधिक लाभ देकर बाद में बञ्जर हो जायगी, जैसे ठूँठ गौ। उसकी स्वाभाविक जीवनी-शक्ति नष्ट हो जायगी। कृषि के लिए तो गाय-बैल की अच्छी नस्ल, अच्छा बीज, अच्छी खाद और किसानों के जीवन में उल्लास और स्फूर्ति चाहिये।"

धरातल के 'प्राक्कथन' में कहा है—"जिस देश में अभी थोड़े दिनों से वैज्ञानिक खेती हो रही है वहाँ इसका परिणाम कालान्तर में प्रकट होगा।......

आबादी जैसी बढ़ी है वह तो पिछले नर-संहार (दूसरे महा-युद्ध) से ही स्पष्ट है। भारत में विभाजन के कारण जमीन की कमी हो सकती है। यदि सदुपयोग किया जा सके तो थोड़ी जमीन भी बहुतों को जिला सकती है। आवश्यकता है जीवन की शैली बदलने की।"...

इस यन्त्र-युग का परिणाम क्या होगा ? कृत्रिम बादल, कृत्रिम चावल, कृत्रिम दूध से भविष्य की सूचना मिलती है। कृत्रिमता भी तभी तक चल सकती है जब तक प्रकृति शेष है; नदियों और जलाशयों के बिना वाटर-वर्क्स कब तक चालू रह सकता है ? (ब्रूटेन में भी और कभी की इस सुजलाम्-सुफलाम् भारत-भूमि में भी अब जल-कष्ट होने लगा है !)

मुद्रागत अर्थशास्त्र हो, चाहे यन्त्रगत पुरुषार्थ, जड़ साधनों से मनुष्य का जीवन भी जड़ हो जायगा। कृत्रिम वातावरण में मनुष्य कब तक स्वाभाविक अथवा हार्दिक प्राणी बना रह सकेगा ! प्रकृति का उर्वर सम्बन्ध छूट जाने के कारण आज आबाल-वृद्ध-वनिता किसी में भी जीवन का सौन्दर्य्य नहीं रह गया है। विभिन्न मुखाकृतियों में आर्थिक कुरूपता से सभी एक-जैसे ही कुरूप और नृशंस हो गये हैं।

कृत्रिम अर्थशास्त्र (मुद्रागत अर्थशास्त्र) से शोषण तो चला ही आ रहा था, अब यन्त्रगत पुरुषार्थ से युद्धों ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप पा लिया है। यह युग-युग के शोषण का एनलॉर्जमेन्ट है। दूसरे महायुद्ध में अन्न-धन-जन का इतना विकराल शोषण हुआ कि

सारे संसार में मुर्दनी छा गयी। स्वतन्त्र देशों की अपेक्षा पराधीन देशों में अकाल का प्रेततारडव होने लगा।

दूसरे महायुद्ध के बाद अंग्रेज चले गये, भारत (सन्' ४७ में) स्वतन्त्र हो गया। अंग्रेजों ने अपने शासन से जिस पशुत्व को दबा रखा था, वह स्वतन्त्रता पाकर अपने प्राकृत रूप में उभर आया। चारों ओर भ्रष्टाचार फैल गया।

नये निम्मार्ण के लिए गान्धी जी का रचनात्मक कार्यक्रम केवल एक मौखिक आदर्श रह गया, उनके पदचिह्नों को छोड़ कर भारतीय शासन पाश्चात्य प्रणाली का अनुकरण करने लगा।—(गान्धी जी चाहते थे कि अंग्रेज रहें, अंग्रेजियत चली जाय। किन्तु अंग्रेज गये, अंग्रेजियत रह गयी।) विदेशों से उसका बाह्य विधान आ गया, किन्तु जीवन घर-बाहर कहीं का भी सामाजिक निम्मार्ण नहीं पा सका।

अन्य देशों की देखा-देखी हमारे देश में भी प्रति रविवार को सारा कारबार बन्द हो जाता है। छुट्टी के दिन लोगों के लिए समय काटना मुश्किल हो जाता है। लोग या तो इधर-उधर निठल्ले घूमते हैं या सिनेमा देखते हैं। मनोरञ्जन का इतना अभाव है कि यदि सड़क पर कहीं से एक कंकड़ भी गिर पड़े तो उसे देखने के लिए भीड़ लग जाती है। फालतू समय के उपयोग का उपाय न सूझने पर लोगों को खुराफ़ात सूझता है।

भौतिकवादी देशों में जीवन का एक अपना निम्मार्ण है। इस अध्यात्मवादी देश में न तो अपना कोई निम्मार्ण है, न भौतिकवादी देशों का। यहाँ जीवन के निम्मार्ण की शिक्षा न तो घरों में मिलती है, न समाज में, न शिक्षालयों में। शिक्षित-अशिक्षित सब का जीवन एक-सा ही अनगढ़ और भोंड़ा है। लोग बेपेंदी के

लोटे की तरह इधर-उधर लुढ़कते रहते हैं।—(वर्षों के विदेशी शासन ने पराधीन भारत को केवल आर्थिक यन्त्र बनाया, सचेतन प्राणी नहीं।) यदि सुरुचि, संस्कारिता और सामाजिकता का बोधोदय होता, जीवन के प्रयोग के लिए विविध दिशाएँ मिलतीं, तो लोगों के समय का सद्व्यय होता, सदुपयोग होता।

गान्धी जी स्वराज्य इसलिए चाहते थे कि भारत अपने आदर्शों के अनुरूप आत्मनिर्म्माण करने के लिए सुअवसर पा जाय। उन्होंने अन्तःशुद्धि और हृदय-परिवर्तन के लिए तदनुकूल रचनात्मक कार्य्यक्रम दिया। यदि उनका कार्य्यक्रम पूरा किया जाता तो अन्तःशुद्धि ही संस्कारिता अथवा क्रियात्मक चेतना बन जाती।

चाहिये तो यह था कि सैनिक वातावरण के कारण हमारे देश की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति चाहे जो होती, किन्तु गृहनीति गान्धी जी के पद-चिह्नों पर ही चलती रहती।

देखता हूँ, मेरी ही तरह किसी के भी जीवन में विविधता, विचित्रता और सरसता नहीं है। मेरा व्यक्तिगत सूनापन सामाजिक सूनापन है। होली, दीवाली, पर्व त्यौहार, मेले, सभा, समारोह ये सब केवल प्रदर्शनमात्र रह गये हैं। मुझे इनमें कोई आकर्षण नहीं। सच तो यह है कि जीवन में ही कोई आकर्षण नहीं रह गया है। एक प्रातः जगा तो उठने की इच्छा ही नहीं हुई। सारी दिनचर्य्या एक कठिन बेगार जान पड़ती थी। पुञ्जीभूत विषाद के अन्धकार में ही मैं विलीन हो जाना चाहता था—'मेरे दुख की गहन अन्धतम निशि न कभी हो भोर।' बाहर की चकाचौंध और चहल-पहल-हलचल से भय लगता था। किन्तु जीने की लाचारी ने जब मुझे फिर संसार में ला खड़ा किया

तब वही ऐसा नया जान पड़ने लगा जैसे श्मशान में जी उठनेवाले प्राणी को अपने चारों ओर का वातावरण जान पड़ता है।

समाज में अभी तक पूँजीवादी वैषम्य बना हुआ है, किन्तु किसी अन्तर्निर्म्माण के अभाव में सभी आर्थिक श्रेणियों के जीवन की परिणति एक-सी ही निर्जीव हो गयी है, सब एक ही जड़ परिणाम के भुक्तभोगी हो गये हैं। सब केवल जीने के अभ्यास से जी रहे हैं।

यह आर्थिक और बौद्धिक अकाल का युग है। लोग आर्थिक अभाव का तो अनुभव करते हैं किन्तु जिसके द्वारा अभाव को सद्भावपूर्वक भरा-पूरा जा सकता है उस सद्बुद्धि के पीछे लाठी लेकर दौड़ रहे हैं। लोग पुरुषार्थहीन पुरुषार्थ में लगे हुए हैं।

आज का मनुष्य आर्थिक पशु हो गया है। वह जी-जान से केवल पैसे को पकड़ने में लगा हुआ है। पैसे में उसका पशुत्व पुञ्जीभूत हो गया है। किन्तु पैसा जिस उत्पादन का मूल्य बना हुआ है, उस उत्पादन की ओर ध्यान न देने से पैसा निर्म्मूल्य हो जायगा। मूल को छोड़ कर मूल्य की ओर दौड़ना आत्महत्या है, आत्मछलना है, सार्वजनिक प्रवञ्चना है।

आज स्थिति यह है कि तरह-तरह के नारों और तरह-तरह के व्याख्यानों में सभी अगुआ न्याय, मानवता और अधिकार की आवाज उठाते हैं, किन्तु लोक-कल्याण के लिए कोई भी 'बोधिसत्व' नहीं होना चाहता, कोई भी आत्मोत्सर्ग नहीं करना चाहता; न साहित्यिक, न कलाकार, न पत्रकार, न राजनीतिज्ञ, न वैज्ञानिक।

अभी कल ही दूसरा महायुद्ध समाप्त हुआ है, अब फिर तीसरे महायुद्ध की आशंका होने लगी है। क्या युद्ध निःशस्त्रीकरण और अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों से रुक सकता है? समाज में जब तक संघर्ष का कृत्रिम कारण (मुद्रा और यन्त्र) मौजूद है तब तक किसी भी हालत में युद्ध नहीं रुक सकता। केवल उसका रूपान्तर ही हो सकता है।

बड़े पैमाने पर जिसे युद्ध और स्वत्वाधिकार कहते हैं, छोटे पैमाने पर उसी को संघर्ष और डाका कहते हैं। आज व्यक्तियों और संस्थाओं में स्वार्थों का संघर्ष छिड़ा हुआ है। व्यक्तियों के संकुचित स्वार्थ गुटबन्दियों में संगठित हो रहे हैं। जो गुटबन्दी नहीं कर सकता वह मोहताज है, उपेक्षित है।—(यह कैसा अर्थ-शास्त्र है कि वेश्या, बधिक और सती सबको जीने के लिए एक ही दूषित परिधि में होड़ करना पड़ रहा है!)

पैसा पूर्णतः पुरुषार्थ का द्योतक नहीं है। इस अर्थशास्त्र की बुनियाद गहरी नहीं है। यह जितना ही उथला है उतना ही उथला होकर कोई भी सफलता की चोटी पर पहुँच सकता है। जो कूटनीतिज्ञ हैं, चालाक हैं, वे स्थापित स्वार्थों की मित्रता जोड़ कर समाज में सम्मानित हो जाते हैं। वे चोर-चोर मौसेरे भाई हैं, ठठेरे-ठठेरे बदलौवल कर रहे हैं, परस्परम् प्रशंसन्ति से लोक-प्रियता प्राप्त कर रहे हैं।—शक्कर से घी खा रहे हैं और मक्कर से दुनिया चला रहे हैं।—(कब तक? जब तक शोषित जनता नादान और भाग्यवादी है)

आज चारों ओर बढ़ता हुआ डाका, हड़ताल, विद्रोह, अनुशासन-हीनता, अराजकता, ये सब कृत्रिम अर्थ-व्यवस्था के दिवा-लियेपन के सूचक हैं। यदि पैसे की प्राप्ति से ही जीवन साधन-सम्पन्न हो सकता है तो उसके लिए पिपीलिका मार्ग छोड़ कर सब को दस्यु-मार्ग ही सुगम जान पड़ेगा।

आज सभी वर्ग तो दस्यु बन गये हैं : कोई वैधानिक रूप में, कोई अवैधानिक रूप में। अर्थ और काम (रोटी और सेक्स) की समस्या ने सबकी चेतना को कुण्ठित कर दिया है। तुलसीदास जी ने बहुत पहिले काम का प्रभाव दिखलाने के लिए जो कहा है वह इस युग पर भी चरितार्थ होता है—'भये कामबस जोगीस तापस पामरन की को कहै !'—यहाँ काम के साथ अर्थ का भी अनर्थ सम्मिलित कर लेने से युग का यथार्थ और भी स्पष्ट हो जाता है।

❀ ❀ ❀ ❀

कभी दशाश्वमेध घाट की किसी मढ़ी पर बैठ कर एकान्त-चिन्तन करता था। अब नगर में सत्यनारायण मन्दिर के द्वार पर बैठ कर चिन्तन और लोकनिरीक्षण करता हूँ। मेरे पृष्ठभाग में सत्यनारायण हैं, दृष्टिपथ पर लोक-संसरण है। संसार की सीमा में रह कर भी एक तटस्थ दर्शक की तरह राजपथ के दृश्य-जगत् को देखता रहता हूँ। कैसे-कैसे लोग हैं, कैसे-कैसे उनके तौर-तरीके ! कोई धनी है, कोई निर्धन है। कोई शिक्षित है, कोई अशिक्षित। कोई कुलीन है, कोई कुली। किन्तु भीतर से सभी तो असंस्कृत और आत्मलोलुप हैं। इधर-उधर पशुओं की तरह गन्दगी करते हैं। आपस में कलरव्योंत की बातें करते हैं। देवता के सामने अपने स्वार्थों को ही मस्तक झुकाते हैं। यदि उनमें आस्तिकता होती तो जीवन के पथ में देवालयों की-सी पवित्रता आ जाती।

जो लोग बन-सँवर कर सुन्दर-सुरँग दिखाई देते हैं उनकी वेश-भूषा में कोई अपनी विशेषता (चेतना की चारुता) नहीं है। उनके कपड़े का कपास किसान ने पैदा किया है, जुलाहे ने उसे बुन दिया है, धोबी ने उसे धवल कर दिया है। यदि इतने श्रमिकों के श्रम

का आवरण हटा लिया जाय तो हम देख सकते हैं कि वे सफेदपोश अपनी आदतों में, रहन-सहन में कितने फूहड़ हैं, घिनौने हैं!

सड़क पर बाजे-गाजे के साथ सिनेमा का जलूस निकलता है। रंग-बिरंगे चित्रों और पोस्टरों से लोगों की हलकी-फुलकी रुचि को आकर्षित किया जाता है। झंडे लिये हुए कभी पार्टियों के और कभी चूड़ी-संघ, बीड़ी-संघ, मजदूर-संघ, कर्मचारी-संघ के जलूस भी निकलते रहते हैं। तरह-तरह के नारों में सब के ढोल बड़े सुहावने लगते हैं। दूसरे महायुद्ध के बाद, मध्ययुग की आर्थिक व्यवस्था के साथ ही पूँजीवादी युग की अर्थव्यवस्था भी समाप्त होने जा रही है। समाप्त होने के पहिले युग-युग के सञ्चित आर्थिक विकार नाना रूपों में जीवन के सभी क्षेत्रों में फूट रहे हैं। अन्न-वस्त्र से लेकर भाषा, भाव, साहित्य, शिक्षा, संस्कृति, कला, विज्ञान, राजनीति, ये सब आर्थिक समस्या (जीवन-समस्या) के ही विविध रूपान्तर बन गये हैं।

इन दिनों गोरक्षा की पुकार हो रही है। 'धरातल' में मैंने लिखा है—"यदि हम गोरक्षा करना चाहते हैं तो गोमाता का स्नेह-वत्सल सरल व्यक्तित्व अर्थशास्त्र में स्थापित करना चाहिये। सारे संसार का अर्थशास्त्र जब तक अहिंसक नहीं हो जाता तब तक मानवता का उद्धार नहीं हो सकता।"

...जलूसों की तरह ही मेरे सामने से लोगों की भीड़ भी सड़क पर गुजरती रहती है। क्या मैं भी उसी में मिल जाऊँ? ना, मैं जानता हूँ कि बाहर के इन प्रदर्शनों में कोई मानवीय स्पन्दन नहीं है। यह बाजा-गाजा, यह जलूस, यह भीड़-भाड़, केवल बाहरी भुलावा है, धोखा-धड़ी है—

"जीवन का लोभ न है वह
वेदना छद्म के छल में।"

इस मृग-मरीचिका के पथ पर जो नहीं चलना चाहता वह स्वभावतः एकाकी पड़ जाता है। भीड़ के साथ जो लोग चलते हैं उनमें भी केवल स्वार्थों की दुरभिसन्धि रहती है, कोई आन्तरिक एकता नहीं। यही कारण है कि पार्टियों में भी फूट पड़ जाती है।

वर्त्तमान असामाजिक सामाजिकता में जो अकेले पड़ जाते हैं उनका असन्तोष राजनीति में भी सुनाई पड़ता है, साहित्य में भी।

निराला जी कहते हैं—

मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा
स्तब्ध दग्ध मेरे मरु का तरु
क्या खिल न सकेगा?

प्रसाद जी कहते हैं—

चिर तृषित कण्ठ से तृप्ति-विधुर
वह कौन अकिञ्चन अति आतुर
अत्यन्त तिरस्कृत अर्थ-सदृश
ध्वनि कम्पित करता बार-बार
धीरे से वह उठता पुकार
मुझको न मिला रे कभी प्यार

पागल रे ! वह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब
आँसू के कन-कन से गिन कर
यह विश्व लिये है ऋण उधार
तू क्यों फिर उठता है पुकार !—
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

क्या युग-युग तक यही दारुण उपालम्भ बना रहेगा ? मनुष्य का हार्दिक आदान-प्रदान और स्नेह-सहयोग क्या स्वप्न ही बना रहेगा ?

मेरा विश्वास है कि परिस्थितियाँ और व्यवस्थाएँ बदलेंगी। मनुष्य में सामाजिकता और आत्मीयता का प्रादुर्भाव होगा। आज जैसे एक दूसरे का शोषण करके सुखी होना चाहते हैं वैसे ही एक दूसरे को सुख देकर सुखी होना चाहेंगे। पौसरे की तरह सब एक दूसरे को शीतलता और तृप्ति प्रदान करेंगे। मुसकरा कर स्नेह और समवेदना से स्वागत करेंगे। श्रान्त-क्लान्त मानव का विश्राम रोई आँखों में निद्रा बन कर सपना ही नहीं रह जायगा, जैसा कि प्रसाद जी ने कहा है—

उच्छ्वास और आँसू में
विश्राम थका सोता है,
रोई आँखों में निद्रा—
बन कर सपना रोता है।

युग-युग से विकल मानवता का स्वप्न 'उषा' का सफल स्वप्न बन जायगा। मानव-आत्माओं का शुभ परिणय हो जायगा।···

मैं तो किसी निसर्ग-सुन्दर युग की सांस्कृतिक प्रजा हूँ। आज के युग में मेरी स्थिति उस आश्रम-मृग की-सी है जो प्रतिकूल वातावरण में आ पड़ा है। मेरा युग तो कहीं दिखाई नहीं देता.

फिर भी जहाँ कृषि और प्रकृति अब भी स्मृति-शेष हैं वहीं मेरा मन चला जाता है। 'पथचिह्न' (सन्' ४६) में मैंने लिखा है—"जी चाहता है, फिर उन्हीं जनपदों की सेवा में निकल पड़ूँ जहाँ से आकर मैं नगरप्रवासी हो गया।"

मैं जिस पथ पर अग्रसर होना चाहता था, सन्' ५१ से विनोबा भावे उसी पथ पर पैदल चल पड़े हैं। अपने भूदान-यज्ञ द्वारा वे इस कृत्रिम यन्त्र-युग में मनुष्य और प्रकृति के विच्छिन्न सम्बन्ध को फिर जोड़ रहे हैं।

प्रकृति का वरदान पाने के लिए मनुष्य को उससे एकप्राण होकर स्वाभाविक पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है। विनोबा का भूदान-यज्ञ उसी पुरुषार्थ को पुनः प्रारम्भ करने के लिए भूमिका है। स्वाभाविक पुरुषार्थ (कृषि और शिल्प) से ही मनुष्य प्रकृति की तरह पल्लवित-प्रफुल्लित होगा। उसी से ऐहिक कुशल-क्षेम के साथ-साथ आत्मिक कल्याण भी होगा। जनक का अध्यात्म और कृष्ण का कला-लालित्य यही सङ्केत दे गया है। दोनों ही पृथ्वी की कृषि-साधना के साधक थे।

अपने नवीन निर्म्माण में स्वाभाविक पुरुषार्थ की यह विशेषता होगी कि वह पिछले युगों की शोषण-प्रणालियों से मुक्त हो जायगा। मध्ययुग की सत्ताएँ तो नामशेष हो ही गयी हैं, आनिधुक युग का पूँजीवाद भी बुझने के लिए ही तीव्र हो गया है। या तो तीसरे महायुद्ध से या विश्वव्यापी अकाल से यन्त्र-युग का भी अन्त होने जा रहा है।

'ज्योति-विहग' के 'प्रगति, संस्कृति और कला' शीर्षक लेख में मैंने लिखा है—"यन्त्रोद्योगों पर से पूँजीवादी प्रभाव को हटा-

कर जिस तरह उन्होंने (कवि पन्त जी ने) यन्त्र-युग का उज्ज्वल मुख देखना चाहा है उसी तरह यदि वे मध्यकालीन उद्योगों (ग्रामोद्योगों) को सामन्तवाद, पूँजीवाद और यन्त्रवाद से अलग करके देखते तो उन्हें प्राकृतिक दर्शन में निष्क्रियता नहीं जान पड़ती ।······

निकट भविष्य में यन्त्रोद्योगों से अकाल-निवारण का प्रयास विफल हो जाने पर जब सभी देशों को ग्रामोद्योगों का आश्रय लेना पड़ेगा तब विश्व-साहित्य में पुनः छायावाद का युग आयेगा। वह उसी तरह खिल उठेगा जैसे ग्रामगीतों, लोककथाओं और ब्रजभाषा का भाव-जगत् खिल उठा था ।"

आज बचपन से प्रौढ़ावस्था में पहुँच जाने पर भी मैं जीवन और साहित्य में विगत शैशव को ही सजीव देखना चाहता हूँ, क्योंकि सृष्टि में वही विश्वसनीय है—

"स्वस्ति, जीवन के छाया-काल !
सुप्त स्वप्नों के सजग सकाल !
मूक मानस के मुखर-मराल !
स्वस्ति, मेरे कवि-बाल !"

काशी,
२५।५।५२

प्रकृति, संस्कृति और कला

हमारे तीर्थ नदियों के तट पर बहुसे ए हैं। इसमें क्या धार्म्मिक सङ्केत है? नदियों से ही जीव का जीवन और विकास है। उन्हीं में हमें प्रकृति, संस्कृति और कला एक दूसरे का पर्य्याय जान पड़ती हैं। गङ्गा जहाँ जमीन को उपजाऊ बना कर जीवन का पोषण करती है वहाँ वह प्रकृति है। जहाँ हमारे कृतज्ञ मन का उन्नयन करती है वहाँ संस्कृति है। यमुना? वह प्रकृति और संस्कृति के साथ-साथ जीवन की एक कला-सुषमा भी है।

भिन्न-भिन्न नदियों के प्रवाह में लोकजीवन की भिन्न-भिन्न कथा बहती आयी है। जिस नदी में जिस कथा की प्रधानता है उसमें उसी भाव का माहात्म्य है। इसीलिए गङ्गा वृद्धा जगन्माता है, यमुना युवती सामाजिक सखी है। नदियाँ केवल जलधारा मात्र नहीं हैं, उनके भीतर भी अन्तःसंज्ञा (अन्तश्चेतना) है। त्रिवेणी में अन्तर्लीन सरस्वती यही सूक्ष्म सूचना देती है। कवि ने ठीक कहा है ..

> आत्मा है सरिता के भी
> जिससे सरिता है सरिता
> जल जल है लहर लहर रे
> गति गति, सृति सृति, चिरभरिता।
>
> ('गुञ्जन')

नदियों में तीर्थ-स्नान करके हम उनके स्नेहसिञ्चन और लोक-सृजन की शक्ति को शिरोधार्य्य करते हैं। नदियों से यह वरदायिनी

शक्ति मनुष्य को प्राकृतिक उद्यम (कृषि) में मिली। इसी प्राकृतिक उद्यम से संस्कृति की सीता का जन्म हुआ, कला की राधिका का आविर्भाव हुआ। प्रकृति के पुरुषार्थी पुत्र पुरुष ने प्रकृति का सहयोग मानवी रूप में पाया।

राम और कृष्ण का अवतार, कृषि के उद्धार के लिए हुआ था। उद्यमी में उद्यम की तरह 'कृष्ण' में 'कृषि' ही साकार हो गयी। कृषक ही कृष्ण में जीवन की सुखश्री सुषमा का कलाकार हो गया था। कृषि को उर्व्वर बनाने के लिए ऋषियों ने भी अपना रक्त-दान दिया था। सूक्ष्मप्राण आध्यात्मिक युगों में भी जीवन की इस पार्थिव साधना (कृषि) का लाक्षणिक संकेत मिलता है। बुद्ध ने कहा है 'कायाश्रितं मनः'। काया है पार्थिव उद्यम का प्रतीक, मन है स्थूल पर आश्रित सूक्ष्म।

जब हम कहते हैं कि भारत की संस्कृति और कला विश्व में सर्वश्रेष्ठ है तब प्रकारान्तर से हम यह भी स्वीकार करते हैं कि भारतीय कृषि-व्यवस्था संसार में सर्वोत्तम थी। कृषि की अधोगति के साथ-साथ भारत की ही नहीं, सारे संसार की संस्कृति और कला म्रियमाण होती जा रही है, आज वह मन्दिरों और अजायबघरों में शव के अवशेषों के रूप में दीख पड़ती है। मन्दिर और अजायब-घर संस्कृति और कला के शिवालय नहीं। उनका शिवत्व समाप्त हो गया है। आज संस्कृति का अर्थ है धर्मग्रन्थों का पिष्टपेषण, कला का अर्थ है निर्जीव प्रदर्शन।

ध्यान से यदि हम देखें तो सभी देशों की संस्कृति और कला का उत्थान कृषि और दस्तकारी के युगों में हुआ था। जैसा ही सजीव उद्यम था, वैसी ही सजीव कला थी। राजा थे, रईस थे, सामन्त थे, शासक थे, शासित थे, किन्तु पृथ्वी शस्य-शून्य नहीं हो गयी थी,

वह अन्नपूर्णा थी, उसके वात्सल्य से परिप्लावित मानव-हृदय का वैभव संस्कृति और कला में परिस्फुटित हो उठा था।

यद्यपि विगत युगों में भी साम्राज्यवाद था, शोषण था, तथापि इस कृषिप्रधान देश का सामाजिक सौहार्द बना हुआ था। राजनीति राजवर्ग तक ही सीमित थी। उसने प्रत्येक व्यक्ति को कूटनीतिज्ञ नहीं बना दिया था। धूप-छाँह की तरह जीवन में अकाल-सुकाल के होते हुए भी समाज अभाव-ग्रस्त नहीं था। वस्तुतः अभाव-ग्रस्त तो राजवर्ग था जिसकी महत्त्वाकांक्षाओं का अन्त नहीं था। अपनी महत्त्वकांक्षाओं के लिए हाथ में तलवार लेकर भी राजवर्ग इस देश की मानसिक हत्या (नैतिक हिंसा) नहीं कर सका।

देश की नैतिक हिंसा उस समय से होने लगी जब कृषिभूमि में आधुनिक वणिक् बर्बरता का प्रवेश हुआ। अपने हल-बैल-चर्खे और कर्घे के साथ यह देश युगों से प्रकृति की पगडंडियों पर चला आ रहा था। पीछे से बनजारे की तरह आकर वणिक् समुदाय ने अपने वाणिज्य का दुस्सह भार इसकी पीठ पर लाद दिया। देश की स्वाभाविक शक्ति क्षीण हो गयी। विदेशी वाणिज्य का भार वहन करने के लिए इसे अस्वाभाविक श्रम करना पड़ा। नील, अफीम और चाय की खेती की तरह भारत में पैसे की खेती होने लगी।

कृषि है सामाजिक साधना, वाणिज्य है राजनैतिक व्यवसाय। यह व्यवसाय अपने अति लाभ के लिए अनुचित-उचित सभी साधनों से काम लेने लगा। मानवीय सामर्थ्य (स्वाभाविक शक्ति) का ह्रास हो जाने पर उसका स्थान यन्त्रों को मिल गया। यन्त्रों ने मनुष्य का प्रकृति से सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया।

उत्पादन-शक्ति अभी शेष है। यदि मनुष्य उत्पादक न बन सका, उपभोक्ता ही बना रहा तो विश्व की कोई भी आर्थिक शक्ति वर्त्तमान सङ्कट से उसका उद्धार नहीं कर सकेगी।

उत्पादन के लिए यह आवश्यक है कि यन्त्रों से मुक्त मनुष्य का स्वाभाविक पुरुषार्थ जगाया जाय। यन्त्रों से तात्कालिक लाभ ही हो सकता है, स्थायी कल्याण नहीं। यान्त्रिक साधनों से उत्पादन बढ़ा कर यदि वर्त्तमान पीढ़ी को किसी तरह बचा भी लिया जाय तो पृथ्वी की उर्वरा शक्ति क्षीण हो जाने के कारण अगली पीढ़ी सर्वथा निराधार हो जायगी। दूरदर्शिता इसी में है कि हम ऐसी श्रम-साधना करें जिससे सभी पीढ़ियों का भला हो।

प्रकृति के साहचर्य्य में मनुष्य उसी की तरह मूलस्थ (गृहस्थ) होकर फल-फूल रहा था। हमारा समाज गृहस्थों का समाज था। गृहप्राणियों की तरह सम्पूर्ण समाज के भीतर आत्मीयता थी। यन्त्रोद्योगों ने गार्हस्थ्य को निर्मूल कर प्रत्येक व्यक्ति को बाजारू बना दिया।

गार्हस्थिक युग एक सुखद स्वप्न की तरह पीछे छूट चला है। व्यापारिक युग एक विकराल यथार्थ की तरह हमारे सामने है। अपने संकीर्ण स्वार्थों में आज का प्रत्येक मनुष्य वणिक् बन गया है। पैसा ही उसका उद्योग है, पैसा ही उसका उद्देश्य है। उद्योग भी जड़ है, उद्देश्य भी जड़ है। ऐसी निर्जीव दुष्प्रवृत्ति का अनिवार्य्य दुष्परिणाम आज का विश्वव्यापी अकाल है।

जहाँ चित्तवृत्ति शुद्ध नहीं, साधनों में प्रकृति की साधना नहीं, वहाँ किसी शुभ परिणाम की आशा नहीं की जा सकती।

एक तत्त्वदर्शी लेखक लिखता है कि जब हमें खुजली होती है तो

खुजली का रामबाण मलहम लगाने से वह अच्छी नहीं होती, क्योंकि खुजली रोग नहीं, रोग का चिह्न है। खून खराब हो गया है, इसी की यह नोटिस है। इसलिए खून को साफ करने की दवा जब तक हम नहीं लेंगे, खुजली नहीं जायगी। इसी प्रकार पूँजीवाद रोग नहीं, रोग का चिह्न है। असली बीमारी क्या है इसे हम जब तक नहीं समझ लेंगे और उसका उपाय नहीं करेंगे, तब तक पूँजीवाद और उसके दुष्परिणामों से समाज का पिण्ड नहीं छूटेगा। इसलिए हम उसकी जड़ पर विचार करेंगे।

इस रोग के दो मुख्य कारण हैं।—(१) परिश्रम को टालने की इच्छा (२) जहाँ तक सम्भव हो शरीर को सुख देने का यत्न।... यन्त्रों के निर्म्माण और तमाम वैज्ञानिक आविष्कारों की जड़ में यही दो कारण हैं। मनुष्य को जो परिश्रम करना पड़ता है उसे कैसे कम किया जाय या एकदम टाल दिया जाय, केवल यही एक दृष्टि यन्त्रों के निर्म्माण के मूल में है। और शरीर को लाड़ प्यार करके इन्द्रियों को किस प्रकार आनन्द दिया जाय, यह है वैज्ञानिक आविष्कारों का सारा प्रयास।

सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट जो विरोध करते हैं वह यन्त्रों और वैज्ञानिक आविष्कारों का नहीं, उनके दुष्परिणामों का। हेतु-शुद्धि (कारण के निराकरण) की ओर उनका ध्यान नहीं है। पूँजीवाद के दुष्परिणामों की खुजली पर कौन-सा मलहम लगाया जाय, केवल यही वे सुझाना चाहते हैं।

हेतु-शुद्धि के लिए हमें प्रकृति के स्वास्थ्यदायक नियमों का पालन करना चाहिये। पञ्चभूतों का पुण्य शरीर जिस प्रकृति का दिव्य निर्म्माण है हमें अपने शरीर और जीवन के सञ्चालन में उसी का सहयोग लेना चाहिये। विश्वामित्र की तरह प्रकृति से असहयोग करना केवल आत्मविडम्बना है।

जनवाद और पूँजीवाद दोनों प्रकृति का उल्लंघन करते हैं। अन्तर यह है कि पूँजीवाद प्रकृति और मनुष्य दोनों पर अपना प्रभुत्त्व रखना चाहता है; जनवाद मनुष्य को उन्मुक्त कर केवल प्रकृति पर अपना आधिपत्य बनाये रखना चाहता है। मूल प्रवृत्ति स्वामित्त्व की है।

हमें प्रकृति पर आधिपत्य नहीं जमाना है, उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना है। वेदों और उपनिषदों के युग में प्रकृति के साथ तादात्म्य था जिसका सांस्कृतिक सौन्दर्य्य कृषिजीवी गृहस्थों के सामाजिक जीवन में साकार हुआ था। छायावाद का भी प्रकृति के साथ तादात्म्य था। किन्तु इस वैज्ञानिक युग में कृषिकालीन सामाजिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण उसे जीवन का व्यावहारिक आधार नहीं मिल सका।

छायावाद को जिस व्यावहारिक आधार की आवश्यकता थी उसे गान्धी जी अपने ग्रामोद्योगों में ले आये। इस व्यावहारिक युग के विकारों का उन्होंने प्राकृतिक उपचार किया, हेतु-शुद्धि और जीवन-शुद्धि का मार्ग सुझाया।

ग्रामोद्योग तो हमारे यहाँ पूर्व से ही था। गान्धी जी का अवतरण उसका स्मरण दिलाने और आचरण में लाने के लिए हुआ। आचरण में उन्होंने पैसे को हटा कर श्रम को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने गृहस्थाश्रम में संन्यास आश्रम को मिला देना चाहा। यही उनका अनासक्त कर्म्मयोग है। यही मध्यकाल की अपेक्षा गान्धीवाद की विशेषता है। नागरिक अर्थशास्त्र से दूर गाँवों में श्रम के आधार पर जो सामाजिक सहयोग था उसे ही गान्धी जी सुलभ करना चाहते थे। मनुष्य-मनुष्य के सचेतन सम्बन्ध के बीच में निश्चेतन माध्यम (मुद्रागत अर्थशास्त्र) एक राजनीतिक प्रवञ्चना है। उनका असहयोग इसी प्रवञ्चना से था।

गान्धी जी के ग्रामोद्योगों से एक बार हम फिर प्रकृति के पारिवारिक प्राणी बन सकते हैं। प्रकृति, संस्कृति और कला का अभिन्न योग ही ग्रामोद्योग है।

उद्योग के अनुरूप ही संस्कृति और कला का भाग्य बनता है। यदि उद्योग खनिज धातुओं पर ही निर्भर रहेगा तो संस्कृति और कला भी उसके साथ निष्प्राण हो जायगी, जैसे पत्थर पर दूब, रेगिस्तान में स्रोतस्विनी। कृषि की तरह संस्कृति और कला के लिए भी प्रकृति की उर्व्वर भूमिका चाहिये। मानवता के शुभचिन्तक कवि का भी यही उद्बोधन है :—

"आज बनो फिर तुम नव-मानव।
चुन चुन सार प्रकृति से अतुलित
जीवन रूप धरो हे अभिनव।

नभ से शान्ति, कान्ति रवि से हर,
भूतों में चेतनता दो भर,
निस्तलता जलनिधि से लेकर
भू से विभव, मरुत से ले जव,

सुमनों से स्मित, विहगों से स्वर
शशि से छवि, मधु से यौवन वर,
सुन्दरता, आनन्द, प्रेम का—
भू पर विचर करो नव उत्सव।"

काशी,
मई, सन् १९५०

युग-निम्माण की दिशा

आज के विभिन्न राजनीतिक 'वादों' में युग की समस्या सुलझने के बजाय उलझती जा रही है। इसका कारण यह है कि राजनीतिज्ञों को समस्या की वास्तविक दिशा का बोध नहीं, यदि बोध हो भी तो उनकी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा उन्हें स्वार्थी बनाये हुए है। वे विभिन्न रूपों में संसार की व्यापारिक (आर्थिक) समस्या हल करने में लगे हुए हैं।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, व्यापारिक नहीं। जब तक संसार में यन्त्रोद्योगों का प्रसार नहीं हुआ, तब तक वह सामाजिक प्राणी बना हुआ था। यन्त्रोद्योगों ने मनुष्य के प्राकृतिक पुरुषार्थ को क्षीण कर दिया, उसे व्यापारिक दस्यु बनने के लिए विवश कर दिया। व्यापार में पुरुषार्थ की उतनी जरूरत नहीं है जितनी चालाकी, मक्कारी और जुआचोरी की। इस तरह के छद्म-कौशल में अनिवार्यतः मनुष्य परस्पर शोषक बन जाता है। जिन्हें हम शोषित कहते हैं उन्हें भी अपने से किसी असमर्थ के शोषण पर निर्भर होना पड़ता है। जीवन की व्यापारिक प्रणाली ने सभी वर्गों को शोषक बना दिया है। सब (उत्तम, मध्यम, निकृष्ट) एक दूसरे के रक्तपान से पनप रहे हैं। आज मिल का मजदूर भी उतना ही कुत्सित है जितना मिल-मालिक। आज किसान भी उतना ही पर-पीड़क है जितना जमींदार। स्वार्थों का सङ्कुचित सम्बन्ध कब तक टिक सकेगा! आर्थिक आधार (व्यापारिक आधार) पर लड़े जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों और हड़तालों-द्वारा मनुष्य की आदिम वर्बरता को ही बल मिल रहा है।

पूँजीवाद को हम कोसते हैं, लेकिन मनुष्य को व्यापारिक प्राणी (क्रेता-विक्रेता) बना कर पूँजीवाद का नाश कैसे किया जा सकता है ! साहित्य, संस्कृति, सभ्यता, सब कुछ तो खरीद-फरोख्त बन गया है। जहाँ जीवन-यापन का प्रमुख साधन धन है वहाँ पूँजीवाद निर्मूल नहीं हो सकता, भले ही उसका रूप बदल जाय।

जहाँ घरेलू आवश्यकताओं के लिए बाजार का मुँह ताकना पड़ता है, वहाँ सामाजिक शालीनता की आशा नहीं की जा सकती। जब रोटी भी बाजार में बिकेगी, सेक्स भी बाजार में बिकेगा, दूध भी शराब की तरह बाजार में बिकेगा, तब सामाजिक साधना की आवश्यकता ही किसे रह जायगी। समाज का अस्तित्व उसके गार्हस्थिक निर्म्माण में है। व्यापारिक प्रवृत्तियों से उसी निर्म्माण (गृहस्थाश्रम) का निर्मूलन हो रहा है।

हम देखते हैं कि बाजारू व्यवसाय के लिए जमीन घिरती जा रही है। जब तक भूमि का यह दुरुपयोग रोका नहीं जाता तब तक 'अधिक अन्न उपजाओ' का नारा निरर्थक है। सच तो यह है कि अब नगरों को भी देहात बना देना है। दूकानदारी को नहीं, बल्कि मनुष्य के घरेलू स्वावलम्बन को प्रोत्साहित करना है।

समस्या वाणिज्य की नहीं, कृषि की है—(अकाल-ग्रस्त देशों में प्रत्यक्ष रूप से, धनाढ्य देशों में प्रछन्न रूप से)। कृषि पर वाणिज्य का असह्य भार पड़ जाने के कारण सामाजिक जीवन में गत्यवरोध उत्पन्न हो गया है। वही गत्यवरोध आर्थिक दुष्परिणामों में प्रकट हो रहा है। आज मनुष्य सामाजिक प्राणी नहीं, बल्कि आर्थिक प्राणी है। समाज नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। आर्थिक हानि-लाभ को लेकर परस्पर जुड़ने-टूटने वाले सम्बन्धों का नाम ही समाज पड़ गया है। निम्न वर्ग से लेकर उच्च वर्ग तक, सभी एक

ही पूँजीवादी टाइप फाउन्ड्री में ढले हुए हैं। टकसालों में ढले हुए छोटे-बड़े सिक्के यदि मानव-आकार धारण कर एक दूसरे से स्वार्थसंघर्ष कर बैठें तो उस संघर्ष का जो रूप होगा वही आज शोषित और शोषकों तथा दीनों और सम्पन्नों के संघर्ष का है। सिक्कों के संघर्ष से द्रव्यागार में जो अशान्ति फैलती, वही अशान्ति आज वर्गों के संघर्ष से समाज में फैली हुई है।

राजनीतिज्ञ रोग की नहीं, उसके उपसर्ग की निरर्थक चिकित्सा में लगे हुए हैं, वे कारण को छोड़ कर अकारण की ओर भटक रहे हैं।

आज के विश्वव्यापी अकाल से ही स्पष्ट है कि समस्या कृषि-जन्य है। यह अकाल केवल अत्यधिक उत्पादन से दूर नहीं होगा। आवश्यकता है यन्त्रों के भार से पृथ्वी को मुक्त कर उसे स्वाभाविक जीवनी-शक्ति देने की। गान्धी जी ने अपने अन्तिम उपवास के बाद, एक पत्र के उत्तर में लिखा था—"यह कार्य्यक्रम (रचनात्मक कार्य्यक्रम) यन्त्र द्वारा या कच्चे काम से नहीं चलाया जा सकता। ट्रैक्टर और रासायनिक खाद से विनाश हो जायगा।"

कृत्रिम ढंग से अत्यधिक उत्पादन में माता का स्वाभाविक स्तन्य नहीं, उसका रक्तशोषण है। जे. सी. कुमारप्पा ने ठीक कहा है—'हमें केवल उत्पादन पर ही ध्यान नहीं देना है, प्रत्युत् उसकी नैतिकता का भी ख्याल करना होगा।'

कोई एक देश नहीं, बल्कि सारा संसार यदि स्वाभाविक ढंग से ग्रामोद्योगों की ओर लौट पड़े तो आसन्न विनाश से बच सकता है। अपने-अपने ग्रामोद्योगों में आत्मनिर्भर बन जाने से शोषण की उस प्रणाली का अन्त हो जायगा जिससे अन्तर्राष्ट्रीय खींच-तान

होती है। अपनी अधिकार-लालसा में जब तक मनुष्य अर्थ-लिप्सु वणिक बना रहेगा तब तक वह सामाजिक (सांस्कृतिक) प्राणी बन ही नहीं सकता।

आज का अकाल सदियों की अर्थ-प्रधान व्यवस्था का अन्त-काल है। अर्थशास्त्र के नये-नये आविष्कारों से यह सङ्कट टल नहीं सकता। हमें प्रायश्चित्तपूर्वक अपनी मनोवृत्ति में आमूल परिवर्त्तन करना होगा। यदि दृष्टिकोण आर्थिक ही बना रहा तो संसार एक अकाल से निकल कर दूसरे अकाल में उस रोगी की तरह ग्रस्त होता रहेगा जो बार-बार मरणासन्न होकर भी सचेत नहीं होता।

सदियों से जीवन के जिस कृत्रिम माध्यम को लेकर मनुष्य चला आ रहा था वह माध्यम अपनी निष्प्राणता के कारण कभी न कभी निःशेष हो ही जाता; युद्धों से तो केवल उसकी समाप्ति का दिन निकट आ गया। गान्धी जी यदि जीवित रहते तो सर्वनाश (तृतीय विश्व-युद्ध) से भारत को मानवता के पथ-प्रदर्शन के लिए बचा लेते। यदि हम उनके उत्तराधिकार (ग्रामोद्योग) को उन्हीं के ढंग से नहीं सँभाल लेंगे तो तृतीय युद्ध में, तटस्थ होने पर भी, भारत का सहमरण हो जायगा।

आज मनुष्य समय की उस मंजिल पर पहुँच गया है, जहाँ उसे जीवन के किसी सजीव माध्यम का आश्रय खोज लेना है। वह सजीव माध्यम ग्रामोद्योगों में मिलेगा।—(गान्धीजी ने सूत का माध्यम चलाना चाहा था।)

तृतीय महायुद्ध के बाद विवश होकर सारा ससार ग्रामोद्योगों की ओर उन्मुख होगा। अभी तो जैसे निःशस्त्रीकरण असम्भव

जान पड़ता है, वैसे ही यन्त्र-मुक्त ग्रामोद्योग भी; किन्तु अपनी निरर्थकता की चरम सीमा (तृतीय युद्ध) पर पहुँच कर ये स्वयमेव समाप्त हो जायँगे, अपनी ही आग में राख हो जायँगे।

आधुनिक उद्योगों में मनुष्य को श्रम से प्रेम नहीं, वह श्रम को यन्त्रों पर बेगार की तरह लादता है, इसलिए उसका श्रम धर्म्म नहीं, अधर्म्म हो गया है। मनुष्य की क्रियाशीलता का स्थान यन्त्रों को मिल जाने के कारण वह अवरुद्ध स्रोत की तरह गुमराह हो गयी है।

ग्रामोद्योगों में श्रम से मनुष्य का ममत्व हो जाता है। वह श्रमिक न रह कर श्रमण हो जाता है। उसका श्रम जीवन की सुनीति का प्रतिष्ठापक बन जाता है। उसके प्रजनन (श्रमोत्पादन) की सीमा मर्य्यादित होने के कारण उसका उद्योग कर्म्मयोग बन जाता है।

हिंसा, लोलुपता, लम्पटता ये सब अमानुषिक उद्योगों की व्याधियाँ हैं। ग्रामोद्योगों में अनावश्यक उत्पादन और आर्थिक शोषण की गुञ्जाइश न होने के कारण मानवीय प्रवृत्तियों का स्वाभाविक विकास होता है। मनुष्य अपने आयास-प्रयास में प्रकृतिस्थ एवं स्थितप्रज्ञ हो जाता है। गान्धी जी के एकादश व्रत को सार्वजनिक सफलता ग्रामोद्योगों से ही मिल सकती है। जिओ और जीने दो, यह होगी अहिंसा; जीने के जो सरल नियम (सामाजिक नियम) हैं वही होंगे सत्य। सभी श्रेणियों और सभी सद्वृत्तियों का सर्वोदय ग्रामोद्योगों से होगा।

गान्धी जी तो थे—

साधु चरित शुभ सरिस कपासू।
निरस बिसद गुनमय फल जासू॥

ग्रामोद्योगों के द्वारा जब मनुष्य पृथ्वी से अपना स्वाभाविक सम्बन्ध-सूत्र स्थापित कर लेगा, तब उसके जीवन में रसात्मकता भी आ जायगी। पृथ्वी रसात्मा है। पृथ्वी के ही रस-दान से ग्रामगीतों में जीवन का मधुर विकास है।

सृष्टि के नियमानुसार मानवता का प्रस्फुटन पृथ्वी के अन्तस् से ही सम्भव है—

'पौधे ही क्या, मानव भी यह भू-जीवी निःसंशय,
मर्म्म-कामना के बिरवे मिट्टी में फलते निश्चय।'

पृथ्वी से जिस तरह वनस्पति फूटती है, उसी तरह सन्तति और संस्कृति भी वहीं से उज्जीवित होती है। ग्रामों में हम उसी पृथ्वी के भीतर जीवन का बीजारोपण करते हैं। कवि ने कहा है—

'सारा भारत है आज एक रे महाग्राम।'

सच तो यह कि मूलतः सम्पूर्ण विश्व ही एक विशाल ग्राम है—
'प्रकृति-धाम यह, तृण-तृण कण-कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित'—
दिग्भ्रमित मानव को अपने इसी प्रकृति धाम में लौट आना है।

काशी,
सन् १९४८

छायावाद का प्राकृतिक दर्शन

आचार्य्य शुक्ल जी के कतिपय अनुयायी छायावाद को एक शैली मात्र मानते हैं। किन्तु स्वयं शुक्ल जी ने छायावाद को केवल एक काव्य-शैली नहीं माना है। उन्होंने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा है—"छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिये। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका सम्बन्ध काव्यवस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बना कर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यञ्जना करता है।''''''छायावाद शब्द का दूसरा प्रयोग काव्यशैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में है।"

किसी भी काल के काव्य में शैली की विशेषता तो रहती ही है। छायावाद की भी अपनी एक शैली है, किन्तु उसका महत्त्व शैलीगत विशेषता के ही कारण नहीं है। उसकी सर्वोपरि नवीनता 'काव्यवस्तु' में है। शुक्ल जी छायावाद को रहस्यवाद के अर्थ में लेकर उसकी काव्यवस्तु को ठीक-ठीक ग्रहण नहीं कर सके। छायावाद और रहस्यवाद दो भिन्न काव्यसत्ताएँ हैं। एक में प्रकृति और आत्मा है; दूसरे में आत्मा और परमात्मा। 'कवि और काव्य' में मैंने लिखा है—एक पुष्प को देख कर जब हम उसे भी अपने ही जीवन-सा सप्राण पाते हैं तो यह हमारे छायावाद की आत्माभिव्यक्ति है। यथा—

रँगीले मृदु गुलाब के फूल !
कहाँ पाया मेरा यौवन ?
प्राण ! मेरा प्यारा यौवन !
('पल्लव')

उसी पुष्प में जब हम किसी विश्वव्याप्त परम चेतन का विकास पाते हैं तो यह हमारी रहस्यानुभूति हो जाती है। यथा—

स्पृहा के विश्व ! हृदय के हास !
कल्पना के सुख ! स्नेह-विकास !
फूल तुम कहाँ रहे अब फूल ?
अनिल में ? बनकर उर्म्मिल-गान,
स्वर्ण-किरणों में कर मुसकान,
झूलते हो झोंकों की झूल ?
फूल ! तुम कहाँ रहे अब फूल ?
('पल्लव')

'काव्यवस्तु' की दृष्टि से छायावाद में प्रकृति आलम्बन बन गयी है, वह स्वयं भी एक व्यक्तित्व हो गयी है। 'वीणा' में पन्त जी ने उसे मातृपद देकर सम्बोधित किया है—

तेरी सुखमय सत्ता जग को
कहाँ नहीं जतलाती है ?
जहाँ छिपाती है अपने को
मा ! तू वहीं दिखाती है।

महादेवी जी कहती हैं—"जहाँ तक भारतीय प्रकृतिवाद का सम्बन्ध है वह दर्शन के सर्ववाद का काव्य में भावगत अनुवाद कहा जा सकता है। यहाँ प्रकृति दिव्य शक्तियों का प्रतीक भी बनी, उसे जीवन की सजीव सङ्गिनी बनने का अधिकार भी मिला,

उसने अपने सौन्दर्य्य और शक्ति द्वारा अखण्ड और व्यापक परम तत्त्व का परिचय भी दिया और मानव के रूप का प्रतिबिम्ब और भाव का उद्दीपन बन कर भी रही।"

मध्यकाल की काव्यउपमाओं में भी यद्यपि प्रकृति की ही विशेषता मनुष्य में देखी जाती थी तथापि उस युग में प्रकृति प्रायः उद्दीपन अथवा आलंकारिक उपकरण है। कहीं-कहीं भावावेश के क्षणों में प्रकृति को भी सजीव रूप में देखा गया है, जैसे—'मधुवन! तुम कत रहत हरे?'—सूरदास के इस पद में मधुवन एक वन न रह कर सुख-दुख का सामाजिक सखा बन गया है।

छायावाद में मनुष्य ने अपने राग-विराग-अनुराग से प्रकृति को भी अपने ही जैसा सजीव व्यक्तित्व दे दिया। क्योंकि, प्रकृति की तरह ही खिलने और मुरझा जानेवाला मनुष्य स्वयं भी प्राकृतिक प्राणी था। प्रकृति, मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों में एक ही चेतना अदृश्य है। वही सब में सूक्ष्म प्राण बन गयी है। इसीलिए सबमें एक ही संवेदनशीलता सूत्रवत् जुड़ी हुई है। शुक्ल जी ने कहा है—

> जिस सूक्ष्म सूत्र को पसार कर बँधा हुआ
> एक है अनेक होता गया वही भाव है।
> खोज अनुबन्ध में अनेकता के उसे यदि,
> निभृत निसर्ग-गति देखने का चाव है॥

सृष्टि की अदृश्य चेतना अथवा सूक्ष्मप्राणता को शुक्ल जी ने 'गुप्त तार' कहा है—

> उछल उमड़ और झूम-सी रही है सृष्टि
> गुम्फित हमारे साथ किसी गुप्त तार से।

रवीन्द्रनाथ ने भी कहा है—"किसी अत्यन्त गूढ़ और अखण्ड तार के द्वारा मनुष्य-प्राणियों के मन एक-दूसरे से बँधे हुए हैं और इसीलिए एक ओर 'खट' होने पर बीच के इसी अदृश्य तार के द्वारा दूसरी ओर तुरत 'खट' हो जाता है।"

कवि पन्त जी भी उसी तार को जीवन के सङ्गीत में झङ्कृत करते हैं—

बँधे हैं सबके जीवन-तार
सबमें छिपी हुई है वही एक झङ्कार!

❀ ❀ ❀ ❀

वैदिक-युग में प्रकृति एक परमात्म सत्ता थी। ऋषियों ने उसकी विभूतियों का दैवी शक्तियों के रूप में आह्वान और स्तवन किया है। छायावाद में वही प्रकृति पारिवारिक बन गयी। उसमें मनुष्य की आत्मसत्ता थी। लोकलीला में वह मानवी भी थी और अपनी अलौकिक अभिव्यक्ति में एक अतीन्द्रिय अनुभूति भी। 'वीचिविलास' में पन्त जी ने कहा—

दिव्य-भूति-सी आ तुम पास,
कर जाती हो क्षणिकविलास-,
आकुल उर को दे आश्वास।

अपनी 'दिव्यभूति' में वह अलौकिक है, अपने 'क्षणिक विलास' में लौकिक। छायावाद ने प्रकृति को जिस लोकरूप में ग्रहण किया वही लोकरूप उसे अलौकिक अनुभूति की ओर भी अग्रसर करता है। इसीलिए छायावाद रहस्यवाद का पूर्वराग है, मनोभूमिका है, आरम्भिक साधन है, सामाजिक सोपान है।......

छायावाद के 'छाया'-शब्द की सूक्ष्मता में कई व्यञ्जनाएँ हैं। इसमें प्रकृति, अध्यात्म और कला की सूक्ष्म व्यञ्जकता है। शुक्ल जी के अनुयायियों ने उनका अनुकरण कर छायावाद में कला की सूक्ष्मता तो देखी, किन्तु प्रकृति और अध्यात्म पर उनकी दृष्टि नहीं जमी। रीतिकालीन अभ्यास के कारण छायावाद के कला-पक्ष पर ध्यान जाना स्वाभाविक ही था। छायावाद की काव्यकला को भी उसी चिरपरिचित आलंकारिक दृष्टि से देखा-परखा गया। शुक्ल जी ने द्विवेदी-युग की कविता को इतिवृत्तात्मक कहा है, छायावाद की कविता को लाक्षणिक। इतिवृत्त की अपेक्षा लाक्षणिकता में सूक्ष्मता तो है ही, प्रसाद जी ने और भी आगे बढ़ कर छायावाद की काव्यकला को ध्वनि-प्रधान कहा है।

कला की सूक्ष्मता की तरह छायावाद की काव्यवस्तु में भी एक सूक्ष्मदर्शिता है। इसीलिए प्रकृति का वर्णन और चित्रण उस स्थूल रूप में नहीं मिलता जिस रूप में ब्रजभाषा और द्विवेदी-युग में मिलता है। मानसी भावानाओं के लिए प्रकृति प्रतीक भी बन गयी है। प्रसाद जी कहते हैं—"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भङ्गिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्य्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचारवक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं।"

प्रसाद जी ने छायावाद की काव्यकला को संस्कृत साहित्य की दृष्टि से देखा है। इसके अतिरिक्त छायावाद पर अंग्रेजी का भी प्रभाव पड़ा है। शुक्ल जी ने इस प्रभाव को विदेशों के पोंछे हुए रंगों का प्रभाव कहा है। क्या शुक्ल जी के जीवन और साहित्य पर विदेशी प्रभाव नहीं पड़ा था?

❀ ❀ ❀ ❀

पृथ्वी पर छाया की तरह छायावाद में प्रकृति का प्रसार और सञ्चार है, उसे तो प्रकृति से ही भावजगत मिला है; जैसा कि कवि ने कहा है—

विपुल कल्पनाएँ लहरों में,
तरु-छाया में विरह-विषाद।
मिली तृषा सरिता की गति में,
तम में अगम, गहन उन्माद।

—(पन्त)

जिस तरह तरु-छाया पृथ्वी से विच्छिन्न नहीं है उसी तरह छायावाद के मनोभाव भी पार्थिव जगत से असम्बद्ध नहीं हैं। वे पञ्चभूतों के मृण्मय कलेवर में ही अमृतप्राण हैं। इसी दृष्टि से प्रसादजी किसी हृदय के 'विषाद' को लक्ष्य कर जिज्ञासा करते हैं—

कौन प्रकृति के करुण काव्य-सा,
वृक्ष पत्र की मधु छाया में।
लिखा हुआ-सा अचल पड़ा है,
अमृत-सदृश नश्वर काया में॥

प्रकृति की तरह ही छायावाद में उसका जीवन-दर्शन (अन्तर-दर्शन) भी सूक्ष्म हो गया है, छायाभास बन गया है। सौन्दर्य्य और प्रेम की अभिव्यक्ति होते हुए भी उसके दृष्टिकोण में वही अन्तर है जो शृङ्गारिक कविता और सगुण उपासना में। छायावाद प्रकृति के साहचर्य्य में नवीन सगुणवाद है। उसमें प्रकृति-पुरुष का सांख्य दर्शन है। महादेवीजी की इन पंक्तियों में मानो प्रकृति ही कहती है—

घूँघट पट से झाँक सुनाते,
ऊषा के आरक्त कपोल।
जिसकी चाह तुम्हें है उसने
छिड़की मुझ पर लाली घोल।

प्रसादजी अपने एक लेख में लिखते हैं—"प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिम्ब है, इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में ले आकर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धान्त भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य, नवीन काव्यधारा में होने लगा है; किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।"

ठीक है, जैसे प्राकृतिक उपकरणों के बिना भी उद्दीपन हो सकता है वैसे ही प्रकृति के बिना भी छायावाद का जीवन-दर्शन अभिव्यक्त हो सकता है। किन्तु भारत-जैसे नैसर्गिक देश में उसके जीवन और संस्कृति पर प्रकृति का अनिवार्य्य प्रभाव पड़ता रहा है। ऋषियों के तपोवन और गृहस्थों के गृह-प्राङ्गण में प्रकृति का ही माङ्गल्य है। हमारे नित्यकर्म्म भी प्रकृति के बिना निष्पन्न नहीं होते। दूर्वादल, कदली-स्तम्भ, अशोक पत्र, ये सब हमारे जीवन के शुभ चिह्न हैं। प्रकृति की उर्व्वरता में ही जीवन की उर्व्वरता है, इसी-लिए वह हमारे लिए 'सगुन' बन गयी है।......

प्रसादजी छायावाद के सम्बन्ध में कहते हैं—"हाँ, मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं है।"—तो फिर छायावाद और रहस्यवाद में क्या अन्तर है? प्रसादजी इसे स्पष्ट नहीं कर सके। उनके विचारों से ऐसा जान पड़ता है कि रहस्यवाद में अद्वैत दर्शन है। इस दृष्टि से छायावाद में क्या द्वैत दर्शन है? महादेवीजी ने अपने एक

गीत में कहा है—जब आकुलता ही राधा बन गयी और विरह ही आराध्य बन गया तब द्वैत क्या, बाधा कैसी !

भावनाएँ अपने को जीवन्त करने के लिए शरीर धारण करती हैं। सदेह अनुभूति के कारण ही द्वैत है। शरीर से द्वैत होकर भी चेतन अद्वैत ही बना रहता है। प्रकृति-पुरुष की तरह राधा-कृष्ण दो भिन्न अस्तित्त्व होकर भी अभिन्न ही हैं। उनकी अभिन्नता विरह में विदेह अथवा अद्वैत हो जाती है। वह निर्गुण उपासना की कोटि में आ जाती है। ऊधो ने गोपियों को निर्गुण का सन्देश दिया था, जिसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया था।

वैष्णव-काव्य विरह-प्रधान है। क्या मिलन में भी दो तन एक प्राण (अद्वैत) नहीं हो सकता ? जब चेतना का अद्वैत ही अभीष्ट है तो मिलन-विरह की इतनी विवृत्ति की क्या आवश्यकता है ? क्यों न वायु-तरङ्गों की तरह चेतना, शून्य में ही विचरती रहती ? प्रसादजी ने 'आँसू' में उसी शून्य विहार का स्वप्न देखा है—

चमकूँगा धूल कणों में,
सौरभ हो उड़ जाऊँगा।
पाऊँगा कहीं तुम्हें तो,
ग्रह पथ में टकराऊँगा।

किन्तु सृष्टि खगोल ही न रह कर भूगोल भी है। रूप, रङ्ग, आकर्षण में वह सजीव ही नहीं, सदेह भी है। सृष्टि के पार्थिव अस्तित्त्व का जो कुछ कारण है, वही कारण जीवन की सगुण लीला का भी है। सौन्दर्य्य, कला, आनन्द में चेतना का क्रिया-कलाप है, अनुभूति का लालित्य है, सहृदयता का समारोह है। जिसे हम निर्गुण निःसङ्ग कहते हैं वह 'कवीर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः

अरसिक नहीं है। जड़ नहीं, उद्भिद है, चेतन है। इसीलिए वह सगुण में साकार है, लीलावतार है।

सगुण की माँग प्रकृति की ओर से है। पुरुष तो उन्मुक्त हो सकता है, किन्तु प्रकृति स्वच्छन्द नहीं है। निरालाजी की एक कविता में प्रकृति कहती है—

तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष;
मैं प्रकृति, प्रेम–जञ्जीर।

सीता की तरह, राधा की तरह, यशोधरा की तरह प्रकृति, पुरुष को अपने स्नेह-पाश से बाँधना चाहती है। राम मर्य्यादापुरुषोत्तम हैं, किन्तु उनकी मर्य्यादा तो सीता है; कृष्ण लीला-पुरुषोत्तम हैं, किन्तु उनकी लीला तो राधा है; बुद्ध करुणावतार हैं, किन्तु उनकी करुणा तो यशोधरा है। पुरुष यदि परमात्मा है तो प्रकृति लोकात्मा।

❀ ❀ ❀ ❀

निर्गुण में रहस्यवाद है। वह रूप (व्यक्त जगत) को छोड़ कर अरूप (अव्यक्त जगत) की साधना करता है। आचार्य्य शुक्लजी निर्गुण रहस्यवाद को अभारतीय और विजातीय मानते हैं। उनकी धारणा है कि वह अरब और फारस से आया है। प्रसादजी रहस्यवाद को भारतीय मानते हैं। वे अपने 'रहस्यवाद' शीर्षक लेख में लिखते हैं—"शैवों का अद्वैतवाद और उनका सामरस्य वाला रहस्य-सम्प्रदाय, वैष्णवों का माधुर्य्य भाव और उनके प्रेम का रहस्य तथा कामकला की सौन्दर्य्यउपासना आदि का उद्गम वेदों और उपनिषदों के ऋषियों की वे साधना-प्रणालियाँ हैं जिनका समय-समय पर उन्होंने अपने सङ्घों में प्रचार किया था।

······प्राचीन आर्य्य लोग सदैव से अपने क्रिया-कलाप में आनन्द, उल्लास और प्रमोद के उपासक रहे; और आज के भी अन्य-देशीय तरुण आर्य्य-संघ आनन्द के मूल संस्कार से संस्कृत और दीक्षित हैं। आनन्द-भावना, प्रिय-कल्पना और प्रमोद हमारी व्यवहार्य्य वस्तु थी। आज की जातिगत निर्वीर्य्यता के कारण उसे ग्रहण न कर सकने पर, यह 'सेमेटिक' है, कह कर सन्तोष कर लिया जाता है।"

प्रसादजी जिस रूप में रहस्यवाद को देखते हैं वह समग्र भारतीय जीवन का सङ्कलन है। छायावाद और रहस्यवाद उसमें समाविष्ट होकर भी अपनी स्वतन्त्र विशेषता रखते हैं। भारतीय रहस्यवाद व्यक्त जगत से ऊपर उठ कर भी उसकी उपेक्षा नहीं करता, उसे ऐसे ही स्वीकार करता है जैसे वाल्मीकि का आश्रम सीता को, कण्व का आश्रम शकुन्तला को।

शुक्लजी ने जिस रहस्यवाद को साम्प्रदायिक (विजातीय) कहा है उसमें जीवन की सरसता को विशेष स्थान नहीं है। सूफी मत में कुछ मधुरता है, किन्तु वह भारतीय रहस्यवाद से प्रभावित है। प्रसादजी लिखते हैं—"सूफी सम्प्रदाय मुसलमानी धर्म्म के भीतर वह विचार धारा है जो अरब और सिन्ध का परस्पर सम्पर्क होने के बाद से उत्पन्न हुई थी। यद्यपि सूफी धर्म्म का पूर्ण विकास तो पिछले काल में आर्यों की बस्ती ईरान में हुआ, फिर भी उसके सब आचार इसलाम के अनुसार ही हैं।···उसमें जहाँ कहीं पुनर्जन्म या आत्मा के दार्शनिक तत्त्व का आभास है, वह भारतीय रहस्यवाद का अनुकरण मात्र है, क्योंकि शामी धर्म्मों के भीतर अद्वैत कल्पना दुर्लभ नहीं, त्याज्य भी है।"

शुक्लजी का साम्प्रदायिक रहस्यवाद से खिन्न हो जाना स्वाभाविक है। इसका कारण व्यक्तिगत नहीं, प्राकृतिक है। जिन देशों में प्रकृति

की प्रफुल्लता नहीं है वहाँ जीवन में दार्शनिकता होते हुए भी मूर्त्तिमत्ता नहीं है। भारत की स्वर्गिक प्रकृति ने यहाँ के जीवन-दर्शन को मूर्त्तरूप दे दिया है। प्रसादजी कहते हैं—"पश्चिम स्वर्गीय साम्राज्य की घोषणा करते हुए भी अधिकतर भौतिक बना हुआ है और भारत मूर्त्तिपूजा और पञ्च महायज्ञों के क्रियाकाण्ड में भी अध्यात्म भाव से अनुप्राणित है।"

यहीं हम यह भी कहें कि भारत, जैसे मूर्त्तिपूजा में भी आध्यात्मिक है वैसे ही प्रकृति की पूजा में ही दार्शनिक है। प्रसादजी ने आध्यात्मिकता और दार्शनिकता को एक बौद्धिक मनःस्थिति में ही देखा है इसीलिए काव्य में वे प्रकृति को विशेष स्थान नहीं दे सके। शुक्लजी लोकवादी थे, इसीलिए रहस्यवाद और छायावाद के दार्शनिक पक्ष को न मानते हुए भी अपनी गोचर-दृष्टि से काव्य में प्रकृति को सम्मानित स्थान दे सके। जिस किसी तरह हो, काव्य में वे भी उसी भावभूमि पर पहुँच गये थे जहाँ छायावाद है।

❀ ❀ ❀ ❀

आगे चल कर छायावाद के कुछ कवियों को प्रकृति से निराशा होने लगी। रामकुमार वर्म्मा कहते हैं—

मेरे दुख में प्रकृति न देती
मेरा क्षण-भर साथ,
उठा शून्य में रह जाता है
मेरा भिक्षुक हाथ।

प्रकृति की सुषमा के सुन्दर कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त भी प्रकृति से विमुख हो गये। 'युगवाणी' में उन्होंने कहा है—

हार गयीं तुम प्रकृति
रच निरुपम मानव-कृति
निखिल रूप, रेखा, स्वर
हुए निछावर
मानव के तन, मन पर

छायावाद की प्रतिक्रिया प्रगतिवाद और मानववाद में हुई। दोनों ने प्रकृति को जीवन में वैसे ही नगण्य कर दिया जैसे रूढ़िवादियों ने घरों में नारी को। इसका कारण क्या प्रकृति की असमर्थता है अथवा इन आधुनिक वादों की अकर्म्मण्यता ?

छायावाद की असफलता का कारण यह है कि काव्य में तो प्रकृति को स्थान मिल गया, किन्तु जीवन में प्रकृति को स्थान नहीं मिला। शैली की दृष्टि से नवीन होते हुए भी काव्य मध्ययुग में था और जीवन आधुनिक वैज्ञानिक युग में। जीवन के साथ सामञ्जस्य न होने के कारण काव्य में प्रकृति या तो अवकाश के क्षणों का एक भावविलास बन कर रह गयी, या अकर्म्मण्यता को छिपाने के लिए दार्शनिक आडम्बर।

शुक्लजी को भाव-विलासिता और थोथी दार्शनिकता से चिढ़ थी। उन्होंने एक सजग आलोचक की तरह छायावाद का पर्दा-फाश किया। उन्होंने कहा है—

प्रकृति का शुद्ध रूप देखने को आँखें नहीं
जिन्हें वे ही भीतरी रहस्य समझाते हैं।
झूठे-झूठे भावों के आरोप से आच्छन्न उसे
करके पाखंड-कला अपनी दिखाते हैं।

प्रकृति के शुद्ध रूप से शुक्लजी का अभिप्राय उसके उस समग्र प्रकृत रूप से है जो केवल भाव-विलास का ही साधन नहीं, बल्कि सृष्टि के प्रसार और विकास का भी साधन है। वे प्रकृति को अनुरञ्जन में ही नहीं, उसकी 'पालन-शक्ति' में भी देखना चाहते थे। केवल अनुरञ्जन के कारण ही छायावाद के उक्त कवियों को प्रकृति से निराशा हो गयी।

रहस्य को शुक्लजी इसलिए नहीं चाहते थे कि उससे व्यक्त जगत (प्रत्यक्ष जगत) की साधना ओझल हो जाती है। भाव-विलास की तरह बुद्धि-विलास (दार्शनिकता) भी उन्हें अभिप्रेत नहीं था। वे सगुणोपासक गृहस्थ थे, इसलिए काव्य और जीवन में रूप-जगत् (साकार जगत) से ही अन्तःसाक्षात् को सम्भव मानते थे। उन्होंने कहा है—

रूप जो आभास तुझे सत्य सत्य देंगे
उन्हीं को समर्थ जान अन्तस् जगाने को।

जीवन की सगुण-दृष्टि से शुक्ल जी जिस निष्कर्ष (रूप-सत्य) पर पहिले पहुँचे, उसी निष्कर्ष पर बाद में छायावाद से प्रगतिवाद की ओर जाकर पन्त जी भी पहुँच गये। 'युगवाणी' में वे सुमन से कहते हैं—

भाव, वाणी या रूप?
तुम क्या हो, चिर मूक सुमन?

... ...

विजय रूप की सदा भाव पर
भाव रूप पर निर्भर!
मैं अवाक् हूँ तुम्हें देख कर

मौन रूपधर !
रूप नहीं है नश्वर !—
सत्ता का वह पूर्ण, प्रकृत स्वर,
सुन्दर है वह.........अमर !

एक ही निष्कर्ष पर पहुँच कर भी शुक्लजी और पन्तजी के जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण में एकदम भिन्नता है। शुक्लजी में प्रकृति की ग्रामीणता है, पन्तजी में यन्त्रों की नागरिकता।

छायावाद की पुराने आलोचकों (रीतिवादियों) ने भी भर्त्सना की और नये आलोचकों (प्रगतिवादियों) ने भी। शुक्लजी का छायावाद से मतभेद कला की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि जीवन की दृष्टि से भी था। प्रगतिवादियों का मतभेद कला की दृष्टि से उतना नहीं था जितना जीवन की दृष्टि से। उन्होंने छायावाद की कला को वैसे ही अपनाया जैसे प्रयोगवादियों ने।

राजनीतिक कार्य्यकर्त्ताओं से प्रभावित होकर छायावाद के वे ही कवि प्रगतिवाद की ओर चले गये जिनमें प्रकृति का कर्म्मयोग नहीं था। प्रकृति अपने अनुरूप पुरुषार्थ चाहती थी। छायावाद के कवियों में यह पुरुषार्थ कोई नहीं करना चाहता था। वे केवल प्रकृति का उपभोग करना चाहते थे। ऐसी स्थिति में निष्क्रिय प्राकृतिक अनुराग जीवन से पलायन ही कहा जा सकता है।

प्रकृति के भावविलासियों और प्रकृति के कर्म्मयोगियों का मतभेद गान्धी-रवीन्द्र के विचारों में प्रकट हुआ। रवीन्द्रनाथ एक ओर खादी (प्रकृति के औद्योगिक स्वावलम्बन के प्रतीक) का विरोध करते थे, दूसरी ओर कृष्ण-युग (कृषि-युग) की बाँसुरी बजाते थे। ऐसे कवि यदि छायावाद से प्रगतिवाद की ओर चले गये तो यह उन्हीं की पलायन वृत्ति थी।

प्रगतिवाद स्वयं एक बहुत बड़ा पलायन है। उसके कृत्रिम पुरुषार्थ का साधन वैसा ही यान्त्रिक है जैसा पूँजीवाद का। प्रकृति को अपना पौरुष देने की अपेक्षा यन्त्रों को अपनी असमर्थता सौंपना यह सजीवता की ओर से निर्जीवता का पलायन है। वह मध्ययुग के सगुण से भी गया-गुजरा है।

छायावाद की तरह मध्ययुग के सगुण में प्रकृति की प्रधानता न होते हुए भी उसके पृष्ठभाग में प्रकृति का सजीव वातावरण था। यथा—

लता भवन ते प्रगट भये,
तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग विमल विधु,
जलद पटल बिलगाइ॥

छायावाद में प्रकृति पृष्ठभाग में ही न रह कर प्रमुख हो गयी। मध्ययुग का सगुण, प्रकृति के जिस सजीव पुरुषार्थ (कृषि और शिल्प) से जीवन्त था, वह पुरुषार्थ आधुनिक युग में भी सर्वथा क्षीण नहीं हो गया, इसलिए छायावाद का भी अभ्युदय हो सका। 'आधुनिक कवि' के अपने काव्य-संग्रह के 'पर्य्यालोचन' में पन्त जी ने अँग्रेजी के रोमैन्टिक रिवाइवल के जिन कवियों की कविताओं से मशीन युग का जीवन-सौन्दर्य्य पाने की बात कही है वे कवि स्वयं मध्ययुग की प्रकृति की ही उपज थे, न कि मशीनी युग की। पूँजीवाद और प्रगतिवाद के यान्त्रिक वातावरण में उनका अस्तित्व वैसा ही है जैसा छायावाद का।

मध्ययुग के सगुण में नर-रूप नारायण था, छायावाद में नर-नारायण पीछे छूट गया, प्रकृति के रूप में उसकी अपरा और

मुख्यतः पग शक्ति सामने आ गयी। मानववाद में मनुष्य और प्रगतिवाद में जनसाधारण का प्राधान्य हो गया। किन्तु इन वादों के पृष्ठभाग और अग्रभाग में जीवन के किसी उर्वर व्यक्तित्व का न तो संरक्षण है, न नेतृत्व।

गान्धीवाद में मध्ययुग का नर-रूप नारायण जनता-जनार्दन हो गया। कृषि और शिल्प के रूप में उसका आधार प्राकृतिक ही बना रहा। छायावाद में जिस प्रकृति का भावयोग था, गान्धीवाद में उसी प्रकृति का पुरुषार्थ। गान्धीवाद ने ही प्रकृति को जीवन में स्थान दिया। छायावाद के लिए प्रकृति की जिस 'पालन-शक्ति' की आवश्यकता थी वह गान्धीवाद में ही थी। छायावाद गान्धीवाद से सक्रिय सहयोग नहीं कर सका, इसलिए वह निरवलम्ब हो गया। (अब चाहे तो विनोबा के कार्य्यक्रम से सहयोग कर सकता है)······

मनुष्य और प्रकृति का साहचर्य्य युग-युग से चला आ रहा था। 'युगान्त' में पन्त जी ने कहा है—

> यह लौकिक औ' प्राकृतिक कला
> यह काव्य अलौकिक सदा चला
> आ रहा,—सृष्टि के साथ पला!

शुक्लजी काव्य में प्रकृति का ऐसा ही 'संश्लिष्ट चित्रण' चाहते थे। यन्त्र-युग के कारण जीवन में ज्यों-ज्यों मनुष्य और प्रकृति का सम्बन्ध-विच्छेद होता गया त्यों-त्यों काव्य में संश्लिष्ट चित्रण भी लुप्त होता गया। अब प्रकृति के साथ-साथ मनुष्य भी लुप्त होता जा रहा है। मनुष्य त्राहि-त्राहि कर रहा है, वह प्रकृति से जीवन चाहता है। प्रसादजी ने सन्तप्त होकर कहा है—

स्नेहालिंगन की लतिकाओं की झुरमुट छा जाने दो।
जीवन-धन ! इस जले जगत को वृन्दावन बन जाने दो ॥

छायावाद चाहे जैसा भी रहा हो, वह उसी प्रकृति का सुकुमार कलाकार राजकुमार था जिसे शुक्लजी काव्य में महीयसी के पद पर अधिष्ठित करते रहे हैं। अतएव शुक्लजी छायावाद की भाव-विलासिता से खीझ कर जो कटु सत्य कह गये हैं वह छायावाद की अपेक्षा यन्त्रगत पूँजीवाद और प्रगतिवाद के ही दुष्परिणाम को सूचित करता है। 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक कविता के अन्त में उन्होंने कहा है—

ऐसे क्रूर कठिन विधान में कहाँ से यह
मंगल की आभा की झलक रह पावेगी ?
नगरों की धातुखण्ड-राशि जिस घड़ी सब
ग्राम-गत भूमि झनकार से जुतावेगी ?
खो के पत-पानी, हार अपनी स्वतंत्रता को
जनता वहाँ की मजदूर बन जावेगी।
लुच्चे और लफंगे नई काट के मिलेंगे, फिर
वहाँ भी पुनीतता न मुँह दिखलावेगी।

काशी,
। । ५३

मिथिला की अमराइयों में

लम्बी यात्राओं से मैं घबड़ाता हूँ। दुर्बल शरीर और ट्रेन की असुविधाओं के कारण दिनचर्य्या ही नहीं सध पाती। यदि मैं धार्मिक वातावरण में न पला होता तो अन्य लोगों की तरह बड़े मजे में खाते पीते और ट्रेन की गन्दगी को बढ़ाते हुए मञ्जिल की दूरी को अखरने नहीं देता। मैं गप्प भी तो नहीं मार सकता, उसके लिए दिमाग में इतना गूदा नहीं है। सिनेमा के दर्शकों की तरह मुसाफिरों के रेला-मेला को चुपचाप देखता रहता हूँ। ट्रेन मेरे लिए एक सामाजिक नुमाइश बन जाती है।

जनकपुर धाम : प्रकृति-धाम

गर्मी का मौसम, दूर मिथिला की अमराइयों में जनकपुर धाम में, नैपाली कांग्रेस का छठाँ वार्षिक अधिवेशन होने जा रहा था। मैं तो अपने देश की कांग्रेस में भी दिलचस्पी नहीं लेता, राजनीति से मुझे उपराम हो गया है, फिर नैपाली कांग्रेस के लिए मैं कैसे उत्सुक हो उठा! नैपाल की राजनीति के प्रमुख कार्य्यकर्ता चिर-पहिचाने हैं। वर्षों से उन लोगों से भेंट नहीं हुई थी, राणाशाही की समाप्ति के बाद नैपाली तरुणों के सार्वजनिक जीवन को देखने का अवसर नहीं मिला था, अतएव मित्रों से मिलने और एक नूतन अध्ययन करने की प्रेरणा स्वभावतः जाग पड़ी। यों भी, जनकपुर धाम काशी की तरह ही मेरा भी तीर्थधाम है। नैपाल और भारत में अन्तर कहाँ है! दोनों का सांस्कृतिक हृदय एक है। नैपाल के पहाड़ों को छूकर भारत हिमालय के साथ और तराई को छूकर

नैपाल भारत के साथ सम्बद्ध हो जाता है। रामचरितमानस की अधीश्वरी जनकनन्दिनी की उस पावन भूमि का दर्शन कर कौन भावुक कृतार्थ होना नहीं चाहेगा!

शरीर की असमर्थता पर जब मन की विजय हो गयी तब मैं उस लम्बी यात्रा के लिए उत्साहित हो उठा। दैव अनुकूल था, इसीलिए ओ० टी० आर० की पैसेञ्जर से अपने अञ्जर पञ्जर को सही सलामत लेकर जनकपुर धाम पहुँच गया।

जनकपुर पहुँचने पर ठहरने की समस्या कठिन हो पड़ी। जिन्हें धर्मशाला में जगह नहीं मिली वे गृहस्थों के घरों में भरे हुए थे। रेल के डब्बे से निकलकर फिर उसी तरह की भीड़ में ठहरने के लिए मेरा श्रान्त, क्लान्त, आक्रान्त शरीर तैयार नहीं था। संयोग से मेरे काशीवासी पड़ोसी भाई ब्रह्मशङ्करजी शुक्ल यदि वहाँ नहीं मिल जाते तो मेरी क्या गति होती! उनके यहाँ सामान रखकर नित्य कृत्य से निवृत्त होकर किसी अच्छी जगह की तलाश में निकला। सबसे पहिले मातृका बाबू से मिला। जिस आलीशान कोठी में वे ठहरे थे वहाँ तो कार्य्यकर्ताओं और प्रतिनिधियों की भरमार थी। निराश होकर मैं विश्वेश्वर बाबू के पास पहुँचा। देखा, छोटे से बँगले के जिस छोटे से कमरे में वे ठहरे हुए हैं वह उनके दुबले पतले शरीर पर कुरते की तरह भी पर्य्याप्त नहीं है। उसी में मिलनेवाले कार्य्यकर्ताओं और पत्रकारों का जमघट लगा रहता था। उनके मस्तिष्क को एकान्त विश्राम दुर्लभ था। फिर भी वे मेरे लिए अपना स्थान रिक्त कर देने के लिए प्रस्तुत हो गये! यदि मैं उनकी इस उदारता को स्वीकार कर लेता तो उनके प्रति कितना बड़ा अन्याय हो जाता!

लौटकर मैंने ब्रह्मशङ्कर से कहा—मैं आज ही बनारस लौटे

जाना चाहता हूँ। वे बोले, आपको क्या चाहिये? मैंने कहा— मैं गङ्गातटवासी हूँ, मुझे पर्य्याप्त जल और खुली जगह चाहिये।

बगल में ही सड़क पर एक सार्वजनिक ट्यूबवेल झरने की तरह चौबीसों घण्टे झरता रहता था, उससे जल की बड़ी सुविधा हो गयी। सोना मैं छत पर चाहता था, किन्तु सीढ़ी नहीं थी। ब्रह्मशङ्कर ने बिजली के खम्भों जैसी लम्बी एक पुरानी सीढ़ी का जीर्णोद्धार कर मानों स्वर्ग का सोपान तैय्यार कर दिया। मेरे लिए जङ्गल ही मङ्गल हो गया। छत पर खड़े होकर देखने से जुगनुओं जैसी क्षीण ज्योति में जगमगाते हुए चारों ओर के दृश्य किसी स्वप्नजगत की तरह अपना छायाभास देते थे। घर, द्वार, बाग, तालाब, खेत सब किसी मायावी की मायापुरी-जैसे मनोमोहक जान पड़ते थे। दिन में बरामदे के सामने अन्तरिक्ष को छूता हुआ दूर तक फैला खेतों का मैदान प्रकृति के मुक्त हृदय-जैसा सुखद लगता था। फुर फुर बहती शीतल हवा तन मन की तपन हर लेती थी। इतना सुन्दर स्थान मुझे बड़े भाग्य से ही मिल गया था। जनकपुर धाम मेरे लिये प्रकृति-धाम हो गया।

राजनीति और संस्कृति

साँझ को जानकीनाथ के मन्दिर की ओर चल पड़ा। कच्ची सड़क गाँव की स्वाभाविकता की याद दिलाती थी। इधर-उधर बने एकाध पक्के मकान गाँव के ऊपर नगर के इजाफा-जैसे लगते थे। बस्ती में पहुँचने पर बेसिलसिले से बने बाजार और लोगों की भेंड़ों जैसी भीड़ भोंड़ी लगती थी। गन्दी और घिनौनी बस्ती में मानों पिछड़ी प्रजा के सामने सम्राट की तरह जानकीनाथ का विराट मन्दिर था। कीचड़ से बजबजाती सड़क और टूटे-फूटे कच्चे घरों के पड़ोस में

मन्दिर की वह विशाल इमारत वैभव के अट्टहास-जैसी लगती थी। कहते हैं, मन्दिर का निर्म्माण अपने भक्तिभाव से प्रेरित होकर ओड़छा के महाराज ने कराया था। उसके निर्म्माण में बुन्देलखण्ड की शुभ्र सुगठित स्थापत्य कला और राजप्रासाद की भव्यता है।

श्रीमन्तों ने परलोक के भय से ईश्वर में जितना मन लगाया, यदि उसका शतांश भी जनता-जनार्दन के जीवन में लगाया होता तो आज इतिहास का स्वरूप ही कुछ और होता। युग-युग से जनता का जीवन केवल शोषण का साधन बना रहा है। उसका घर-द्वार, हाटबाट, रहन-सहन सब कुछ अनगढ़ ही रह गया। और आज जनता का ही नहीं, सभी का जीवन केवल एक आर्थिक असन्तोष मात्र रह गया है। शिक्षित-अशिक्षित सभी एक ही दिशा (आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा) की ओर एकाग्र हो गये हैं, जीवन की अन्य बातों की ओर उनका ध्यान नहीं है। कुली से लेकर कुलीन तक सब अपने रहन-सहन में एक ही जैसे फूहड़ हैं; उनमें संस्कृति नहीं, कला नहीं, जीवन की सुन्दरता नहीं।

संस्कृति और कला का जन्म जनता के सामाजिक और गार्हस्थिक अस्तित्त्व के भीतर से हुआ था। लोकगीतों, दन्तकथाओं, घरेलू दस्तकारियों, रस्म-रिवाजों और धार्मिक आचार-विचारों में जनता ने आत्मनिर्म्माण किया था। मध्ययुग से लेकर आधुनिक युग तक शोषित और उपेक्षित जनता बाहर से अनगढ़ होते हुए भी भीतर से सुघड़ है। अवसर मिलने पर जीवन की सुरम्यता का दृष्टान्त वही उपस्थित कर सकती है। शताब्दियों के क्रूर प्रहारों में भी जनता का जो सामाजिक और गार्हस्थिक सौष्ठव अभी शेष है हमें उसे उज्जीवित करना चाहिये। कैसे? जिस स्वाभाविक क्रम से जनता का जीवन अङ्कुरित प्रस्फुटित होता आया है उसी के अनुरूप स्वाभाविक आर्थिक कार्य्यक्रम देकर हम जनता को स्वावलम्बी और जीवन को

विविध दिशाओं में रचनात्मक बना सकते हैं। हमारे देश में सर्वोदय इसी ओर सचेष्ट है। मशीनी युग के अर्थशास्त्र की ओर दौड़ना मृगमरीचिका है। क्या भारत, क्या नैपाल, क्या सारा संसार, आज सभी जगह इतिहास को कुछ रुक कर सोचना है।

जनता तो जहाँ की तहाँ है, किन्तु बड़े बड़े नगरों की तरह जानकीनाथ के मन्दिर के छोटे से बाजार में भी प्रगतिशील साहित्य, छापाखाना, रेस्तराँ पहुँच गया है। यही क्या आधुनिक युग का नैवेद्य है?……

नैपाली कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन २३ मई से प्रारम्भ होनेवाला था, किन्तु प्रतिनिधियों की सूची में संशोधन करने के लिए दो दिन तक वह स्थगित रहा। इस बार सभापति का चुनाव था, अतएव विरोधियों के कारण वातावरण क्षुब्ध और उष्ण था। गनीमत यह थी कि मौसम में ठण्डक थी, मस्तिष्क को शीतल करने के लिए रोज वर्षा होती थी।

२५ मई को सायंकाल 'बीस बीघा मैदान' में कांग्रेस का उद्घाटन मातृका बाबू के भाषण से हुआ। इस मैदान के समानान्तर दोनों ओर सघन अमराई शोभायमान है। मुक्त प्राङ्गण, मुक्त क्षितिज, मुक्त आकाश, पावस का सजल उल्लास सबको सहृदयता का निमन्त्रण दे रहा था।

दूसरे दिन सवेरे से ही नये सभापति के चुनाव के लिए अधिवेशन आरम्भ हुआ। बीस बीघा मैदान आगे रह गया, उसके पीछे छोटे मैदान में, सुसज्जित पण्डाल में, अधिवेशन ने वैधानिक रूप ले लिया। जान पड़ता है, इस सँकरे वातावरण में आकर विगत सन्ध्या का उन्मुक्त वातावरण सिमट गया। वातावरण की तरह ही

लोगों का मस्तिष्क भी उष्ण जान पड़ने लगा। झल्लाहट, झुँझलाहट और अनर्गल प्रलाप से प्रतिनिधियों के स्वभाव का परिचय मिलता था। केवल आत्मप्रदर्शन के लिए लोग कुछ न कुछ बोलने के लिए उतावले हो जाते थे, इसीलिए बाल की खाल निकालने में भी चूकते नहीं थे। किसी वाद्ययन्त्र के टूटे हुए सरंजामों में जैसे कोई सुव्यवस्थित स्वर नहीं बँध पाता वैसे ही उस अधिवेशन में कोई सुसम्पादित क्रम नहीं सध पाता था।

नैपाल की राजनीतिक पार्टियों को अभी सार्वजनिक जीवन का विशेष अनुभव नहीं है। उन्हें अवसर भी कहाँ मिल पाया! कल तक राणाशाही का दबदबा था। भारत की तरह नैपाल की स्वतन्त्रता भी अभी नयी है। किन्तु पराधीन भारत में कांग्रेस के जन्म से लेकर स्वतन्त्रा-दिवस के पूर्व तक सार्वजनिक जागृति की एक लम्बी परम्परा है। नेताओं और कार्यकर्ताओं को विभिन्न आन्दोलनों में अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिला है। फिर भी उनमें राष्ट्रीय दायित्व नहीं आ सका है, कारण, राजनैतिक प्रतिद्वन्द्विता के वशीभूत होकर वे गान्धीजी के पीछे तो चल पड़े, किन्तु शुरू से ही उनके नैतिक लक्ष्य (अन्तःशुद्धि) और उनके साधन (रचनात्मक कार्य्य) को ठीक-ठीक हृदयङ्गम नहीं कर सके, फलतः आज चारों ओर भ्रष्टाचार फैला हुआ है। जब भारत का यह हाल है तब नैपाल का क्या कहना!—बड़े मियाँ बड़े मियाँ, छोटे मियाँ सुभान अल्लाह!! अनुभवों के अभाव में नैपाल की राजनैतिक पार्टियाँ भारत की भद्दी नकल करने में लगी हुई हैं। नया मुसलमान जैसे 'पियाज पियाज' बहुत चिल्लाता है वैसे ही ये पार्टियाँ जनतन्त्र, अधिकार और विधान की रट बहुत लगाती हैं। अभी वे नौसिखुवा हैं, इसलिए क्षम्य हैं; किन्तु कांग्रेस के अनुभवी नेताओं

के प्रति उन्हें सहिष्णु और श्रद्धालु होना चाहिये, क्योंकि उन्हीं की प्रेरणा और तपस्या से नैपाल को नवजात स्वतन्त्रता मिली है।

राजनैतिक जीवन में ही नहीं, दैनिक जीवन में भी नैपाल के नवयुवक भारत की भद्दी नकल करने में लगे हुए हैं। अंग्रेजी शिक्षा पाकर जैसे भारतीय नवयुवक अपनी सामाजिक संस्कृति छोड़ बैठे, वैसे ही भारत में रह कर अंग्रेजी पढ़नेवाले नैपाली नवयुवक भी। भारतीय और नैपाली युवकों को संस्कृति एवं आचार-विचार-शिष्टाचार की क्रियात्मक शिक्षा घरों में अपनी माताओं और बहिनों से मिलती रही है। जब से अंग्रेजी शिक्षा आयी, उनका सम्बन्ध घरों से छूट गया, होस्टलों और होटलों से जुड़ गया। अंग्रेजी शिक्षा में पगे नवयुवक माताओं और बहिनों को दकियानूस समझ कर अपनी तहजीब छोड़ बैठे। वे उद्धत, फैशन-परस्त और इंजन की तरह सिगरेट का भकाभक धुँआ उड़ानेवाले सभ्य बन गये। अब तो लोग महिलाओं के सामने भी सिगरेट पीते हैं। पढ़े-लिखे होकर भी घेपढ़ों की तरह ही इधर-उधर थूक देते हैं, लघुशङ्का कर देते हैं, यहाँ वहाँ फलों के छिलके और कूड़ा-कतवार फेंक देते हैं। अपनी सामाजिक जिम्मेदारी महसूस नहीं करते। ऐसे लोग नेता बन कर भला जनता का बेड़ा कैसे पार करेंगे!

शिक्षित युवकों ने अशिक्षितों की बुराइयाँ ग्रहण कर लीं, अशिक्षितों ने शिक्षितों की फैशनपरस्ती ले ली! वाह, कितना अच्छा आदान-प्रदान है!!

नवयुवकों की तरह नवयुवतियाँ भी क्या अंग्रेजी फैशन की ओर नहीं बढ़ी ही जा रही हैं? स्वतन्त्रता का अर्थ यदि देश की आत्मा का

जागरण हो तो उसका परिचय स्वदेशी वस्तुओं से लेकर अपने दैनिक रहन-सहन में मिलना चाहिये। एशिया के अन्य देशों की तरह हमारे देश में भी अपनी सांस्कृतिक छाप होनी चाहिये।

संस्कृति की दृष्टि से हमारी आशा नेपाल पर लगी हुई है। वही भारतीय संस्कृति और कला का सुदृढ़ गढ़ बन सकता है। राणा-शाही से दबे रहने पर भी वहाँ अंग्रेजियत का साम्राज्य कभी स्थापित नहीं हुआ। थोड़े बहुत धब्बों के लग जाने पर भी उसकी अन्तरात्मा अभी अपने मौलिक रूप में सजीव है। नैपाल के नवयुवकों को अपने व्यक्तित्व से वहाँ की विशेषता का परिचय देना चाहिये। उन्हें फिर अपनी माँ-बहिनों के चरणों में बैठ कर कुछ सीखना चाहिये। नयी पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी के सहयोग से संस्कृति का स्वरूप निखर आयेगा।

वर्षा-मङ्गल

किसी भी देश की संस्कृति का भविष्य उसकी आर्थिक प्रणाली पर निर्भर है। यदि नैपाल की पार्टियों में जन-जीवन को उठाने का मूलभूत प्रयत्न (सांस्कृतिक प्रयत्न, प्रकारान्तर से संस्कृति के अनुरूप आर्थिक प्रयत्न) नहीं किया गया तो उनका संघर्ष केवल सत्ता के लिए संघर्ष रह जायगा। सच तो यह है कि कोरे राजनीतिक संघर्ष जनता के नाम पर अपने ही आर्थिक लाभ के लिए किये जाते हैं। जो सत्ता नहीं चाहता वह रचनात्मक कार्य्य में लग जाता है और सरकार को अपने कार्य्यों से ही प्रभावित करता है। गान्धीजी की यही शक्ति थी, विनोबा भी उन्हीं के पदचिह्नों पर चल रहे हैं।

नैपाल में आज वैचारिक रूप से गृहसंघर्ष छिड़ा हुआ है।

जनकपुर अधिवेशन के अवसर पर विभिन्न पार्टियाँ अपनी सरगर्मी तो दिखा ही रही थीं, सभापति के चुनाव के दिन कांग्रेस के भीतर से ही एक विस्फोट हो गया। प्रतिनिधियों की जिच के कारण जो चुनाव सबेरे नहीं हो सका उसका कार्यक्रम सायंकाल शुरू हुआ। मतगणना में गड़बड़ी न होने देने के लिए पत्रकारों और दर्शकों को छाँट दिया गया। फालतू लोग अमराई में समुद्र के ज्वार की तरह उत्सुकता से उमड़ घुमड़ रहे थे। मैं भी भीड़ की चहल-पहल देखने के लिए इधर-उधर घूम रहा था। भीड़ से निकलकर आगे बढ़ने पर नेपाल की एक महिला ने अपने संघ की मन्त्रिणी से परिचय कराने के लिए रोक लिया। सामने पगडण्डी की ओर दृष्टि गयी तो देखा—कुछ आदमियों का रेला कोलाहल करते हुए दौड़ा जा रहा है। बाद में ज्ञात हुआ कि यातायात मन्त्री भद्रकाली मिश्र सभा त्याग कर अपने दल बल के साथ बाहर निकल गये हैं। यातायात मन्त्री के नेतृत्व में यातायात का कुछ प्रदर्शन होना स्वाभाविक ही था।

लोगों में जो खलबली मच गयी उसका साथ देने के लिए प्रकृति भी ललक पड़ी। घनघोर घटा घिर आयी, बिजली चम चम चमकने लगी। पानी बरसने के पहिले ही मैं अपने निवासस्थान पर चला आया। सोचा—सभा तो अब क्या होगी, लोग भींगेंगे खूब।

बरामदे में दीवाल से टिक कर बैठते ही झम झम झम झम पानी बरसने लगा। वर्षा की फुहार बिना गुलाबजल के ही सर्वाङ्ग को तरावट देने लगी। मैं एकटक दिगन्त की ओर देखता रहा। आड़ी तिरछी सीधी न जाने कितनी कलाभङ्गिमाओं में बिजली नृत्य कर रही थी। उसकी कौंध में सामने का विस्तृत मैदान, मैदान में दूर-दूर बिखरे पेड़ पत्ते, झोंपड़े और मकान निमिष भर

के लिए आह्लाद से उद्भासित हो उठते थे। इधर हमारे देश में कई वर्षों से वर्षा का अभाव हो गया है। जीवन के सुखद स्वप्नों की तरह वर्षा ऋतु भी केवल काव्यकल्पना होती जा रही है। किन्तु यहाँ जनकपुर में तो एक बार फिर संस्कृत और ब्रजभाषा में वर्णित वर्षा की शोभा प्रत्यक्ष और द्रष्टव्य हो उठी। जान पड़ता है, मानुषी विकृतियों से प्रकृति सर्वथा विकृत नहीं हो गयी है, उसकी सञ्जीवनी शक्ति अभी शेष है। 'प्रसाद' की 'कामायनी' की पंक्ति याद आती है, मानों कवि के कण्ठ से कण्ठ मिला कर प्रकृति राजनीति की दावाग्नि में अपना सृजनात्मक सन्देश दे रही है—

जहाँ मरुज्वाला धधकती,
चातकी कन को तरसती;
उन्हीं जीवन घाटियों की
मैं सरस बरसात रे मन !

बिदा के दिन

नैपाली कांग्रेस का अधिवेशन जिस दिन समाप्त होने को था उस दिन जनकपुर में मेरा अन्तिम दिन था। इधर-उधर अनुरोधी और विरोधी दलों की सभाएँ हो रही थीं, किन्तु मैं मनुष्य और प्रकृति के जगत में विरम रहा था। दोपहर में गङ्गा सरोवर की सीढ़ियों के एक बारजे पर जा बैठा। सामने तरल निर्मल तालाब, चारों ओर पेड़ों का छायाकुञ्ज, बनदेवता के अधिष्ठान की तरह शुभ्र सुन्दर एक छोटा सा मन्दिर! मन किसी शान्त लोक में विश्राम ले रहा था।

तालाब में एक किशोर और एक युवक नहा रहे थे। तरह तरह की मुद्राओं में तैर रहे थे। घाट पर आकर जब वे अपनी देह पोंछ रहे थे तब सबसे ऊपर की सीढ़ी पर खड़ी गुड़िया-सी एक नन्हीं मुनिया ने ईंट का टुकड़ा उठा कर उनकी ओर फेंक दिया। युवक बनावटी गुस्से का अभिनय कर एक समूचा भारी ईंटा लेकर उसे मारने दौड़ा तो किशोर ने मुस्कराते हुए बीच में ही मना लिया। बालिका सकुचा कर मन्द-मन्द हँसने लगी। किशोर अपने कानों में पड़े जल को बाहर निकालने के लिए एक बार दाएँ और एक बार बाएँ थिरक उठा। अहा, यही तो जीवन है!

साँझ को बीस बीघा मैदान की खुली हवा में टहलने चल दिया। बायीं ओर छोटे बड़े कई लड़के फुटबाल खेल रहे थे। बड़ी कुशलता से वे बाल को फेंकते उछालते और लोकते थे। मैं मन्त्रमुग्ध की तरह देखता रहा। मन में कुछ मधुर अतृप्ति बनाये रखने के लिए खेल को पीछे छोड़ कर आगे निकल गया। एकाएक दाहिने पैरकी पिण्डुली में दस्तक-सा आ लगा। पीछे घूम कर देखता हूँ, तो फुटबाल बुलडाग की तरह उछल रहा है। एक लड़का उसे हाथों में लेते हुए निर्दोष भाव से हँस रहा था। कैसे वे रसिक खिलाड़ी थे कि इस अनजान मुसाफिर को भी उन्होंने बिदाई का क्रीड़ास्पर्श दे दिया!

याद आती है एक और रसिक मूर्त्ति। वे थे 'हिन्दुस्तान स्टैन्डर्ड' के लखनऊस्थित सम्वाददाता; दुबले पतले, साँवले, छरहरे। अन्य पत्रकार जब कि अपने कन्धों पर कैमरा लटकाये रहते थे, वे अपने हाथ में माउथ आर्गन लिये होठों से बजाया करते थे, कोलाहल में कलरव घोलते थे। उनकी वेशभूषा और मधुर स्वभाव से प्रसन्न होकर मैंने उन्हें चार्ली चैपलिन की उपाधि दे दी।

शुक्ल पक्ष प्रारम्भ हो गया था। हलकी चाँदनी में मैं बीस बीघा मैदान में स्वर्ग-विहार कर रहा था। पता नहीं, अब यहाँ कब आना होगा! फिर आने पर प्रकृति का प्राङ्गण यहाँ ऐसा ही उन्मुक्त मिलेगा या नहीं!

काशी,
१२-६-५२

संस्कृति की साधन

इधर कुछ समय से देश में संस्कृति की चर्चा जोरों पर है। इसका कारण, साम्प्रदायिक उपद्रवों की प्रतिक्रिया है। पहिले धार्म्मिक मतवादों का जोर था। सनातनधर्म्मियों और आर्य्यसमाजियों का वाद-विवाद, आर्य्यसमाजियों और पादरियों का बौद्धिक द्वन्द्व, हिन्दू-मुसलमानों और शुद्धिसभा का सामाजिक सङ्घर्ष, ये सब अभी कल की ही बातें हैं। इन धार्म्मिक विद्वेषों का राजनीतिक विस्फोट साम्प्रदायिक सङ्घर्ष के रूप में हुआ और गान्धी जी का बलिदान भी हो गया। परिणामस्वरूप अब राष्ट्रीयता के समर्थक धर्म्म के स्थान पर संस्कृति शब्द का प्रयोग करने लगे हैं।

संस्कृति की बातें अभी उच्चकोटि के बुद्धि-विशारदों में ही सुनाई पड़ती हैं, एक वैचारिक फैशन के रूप में; जनता तक वे पहुँच नहीं सकी हैं। जब तक कोई बीज-मन्त्र जनता के मर्म्मस्थल में नहीं जम जाता तब तक वह वातावरण में प्रस्फुटित नहीं हो पाता। जनता इस समय अन्न-वस्त्र से बेहाल है। केवल अकाल का प्रभाव वह जीवन पर देख रही है, सांस्कृतिक ह्रास का परिणाम उसे दिखाई नहीं दे रहा है। वह अनुभव नहीं कर रही है कि अकाल की तरह ही असंस्कृत रहन-सहन का भी दुष्प्रभाव व्याधियों के रूप में मनुष्य के शरीर पर पड़ता है। अन्न की तरह संस्कृति का भी दुष्काल आत्मा और शरीर दोनों को ग्रस लेता है। गान्धीजी कहा करते थे कि कोई ज्यादा खाने से बीमार पड़ता है, कोई पर्य्याप्त भोजन न मिलने से मरणासन्न हो जाता है। इसी के साथ यह भी ध्यान देने की बात है कि अधिक खाने वाले, कम खाने वाले, और गम खाने

वाले, ये सभी पशु हो सकते हैं। संस्कृति ही मनुष्य को पशु की अपेक्षा विशेषता प्रदान करती है। जिन पशुओं में भी संस्कृति का सौष्ठव है वे पूज्य कोटि में आ गये हैं। इसी लिए हमारे यहाँ गाय का स्थान सर्वोपरि है: मनुष्य से भी ऊपर। केवल दूध देने या परलोक में वैतरिणी पार कराने के कारण वह मान्य नहीं। उसका विशिष्ट व्यक्तित्व इन क्षुद्र स्वार्थों से परे है। वह है संवेदनशीलता की मूर्तिमती आत्मा। उसी के भीतर से प्राणिमात्र के लिए अहिंसा का उदय होता है। जीवन के प्रति गाय का बहुत ही निरीह और ममतापूर्ण (निखिल सृष्टि के प्रति मातृत्त्वपूर्ण) सन्देश है।

इस समय देश में चारों ओर खाद्योत्पादन का आन्दोलन हो रहा है। परमात्मा करे, यह देश भुखमरी से बच जाय। लेकिन भुखमरी से बच कर आत्मा को भी खाद्य देने के लिए संस्कृति को अपनाना होगा।

आज एक ओर संस्कृति की आवाज सुनाई दे रही है, दूसरी ओर यह संशय भी चल रहा है कि हम संस्कृति किसे कहें? निश्चय ही यह संशय वे ही लोग उठाते हैं जो संस्कृति को अपनी साम्प्रदायिकता से सीमित करना चाहते हैं।

हाल में इधर-उधर एकाध संस्कृति सम्मेलन किये गये। उनमें बड़े-बड़े व्याख्यान और प्रस्ताव पास हुए, लेकिन सांस्कृतिक दृष्टि से सुप्त समाज का उठ बैठना तो दूर, उसने करवट भी नहीं ली।

गान्धीजी कहा करते थे कि, 'यदि व्याख्यानों से ही स्वराज्य मिल सकता तो वह फिरोजशाह मेहता और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के समय में ही मिल जाता।'—यही बात संस्कृति के मौखिक आन्दोलकों से भी कही जा सकती है।

हम अक्सर अखबारों में पढ़ते हैं कि भारतीय संस्कृति सर्वोच्च है। कभी रूस भारतीय संस्कृति की प्रशंसा करता है तो कभी अमेरिका और यूरोप। कभी-कभी यह समाचार भी सामने आता है कि अमुक महानुभाव भारतीय संस्कृति का प्रचार करने के लिए अमुक-अमुक देशों का भ्रमण कर रहे हैं। लेकिन वह भारतीय संस्कृति है कहाँ जिसका इतना गुणगान और विज्ञापन किया जाता है। हम तो विदेशों की तरह अपने देश में भी देखते हैं—जघन्यतम स्वार्थ-प्रतिद्वन्द्विता और प्रतिहिंसा। सच तो यह कि आज एक देश को देख कर सारे संसार का वास्तविक परिचय मिल जाता है। सब एक ही 'जीवोजीवस्य' वाली हिंसक वृत्ति के वृकोदर हैं।

उस दिन काशी में श्रद्धा माता ने कहा था—'पाश्चात्य देशों ने भारतीय संस्कृति को हमारे ग्रन्थों से जाना, हमारे आचरण से नहीं।' सचमुच, हमारा आचरण दूर से ही नमस्कार करने लायक है।

[२]

स्वराज्य के लिए जैसे रचनात्मक कार्य्य किया गया वैसे ही संस्कृति के लिए भी कुछ रचनात्मक कार्य्य करने की आवश्यकता है। संस्कृति की लम्बी-चौड़ी बातें करने के बजाय यदि मानव-मात्र के स्वभाव को परिष्कृत करने के लिए दैनिक जीवन में सुरुचि का सञ्चार अथवा संस्कारिता का उन्मेष किया जाय तो संस्कृति स्वतः सजीव हो उठेगी। इसके लिए जापान के 'कागावा' जैसे मूक, सहिष्णु एवं सक्रिय समाजसेवकों के आगे बढ़ने की जरूरत है, धर्म्म-प्रचारकों और संस्कृति के वाग्वीरों की नहीं। हमें विद्वत्ता नहीं, संस्कारिता चाहिये।

'युगवाणी' में कविवर पन्त जी ने कहा है—'धार्म्मिक, उपदेशक, पण्डित दानी हैं लोकप्रतारक।'—इसीलिये—

'आज सत्य शिव सुन्दर केवल वर्गों में है सीमित,
ऊर्ध्वमूल संस्कृति को होना अधोमूल है निश्चित।'

वस्तुतः हमें शिखर की ऊँचाई से नहीं, बल्कि गह्वर की अधोगति से संस्कृति का आरम्भ करना है। संस्कृति को देव-प्रतिमाओं की तरह केवल पाषाण-पूजा नहीं देनी है, उसे जीवन में जीवित करना है, उसे 'जन-संस्कृति' बना देना है।

आज की एक साधारण (देखने में साधारण)—किन्तु असाधारण आवश्यकता है जन-संस्कारिता, जिसके अभाव में जनता भैंस बनी हुई है। जो जनता अभी तक सांस्कृतिक चेतना की वर्णमाला (संस्कारिता) ही नहीं पा सकी है उसके सामने शिक्षा, संस्कृति और कला के राग अलापना भैंस के आगे बीन बजाना है।

हम देखते हैं कि देश में अनेक कला-भवनों, संग्रहालयों और सांस्कृतिक केन्द्रों के होते हुए भी जन-मन का परिष्कार नहीं हो सका। वे वैसे ही निष्फल हैं जैसे ये स्कूल, कालेज, युनिवर्सिटियाँ। ये यान्त्रिक वस्तुओं के उत्पादन की तरह ही कला और शिक्षा के भी उत्पादन की फैक्टरियाँ बनी हुई हैं। इनका निर्म्माण उन्हीं के अनुरञ्जन और प्रभुत्व-प्रसारण के लिए है जो जन-समाज के शोषण पर ही अपना अस्तित्त्व बनाये हुए हैं। समग्र देश की सुख-श्री-सुषमा जिस तरह अर्थ-शक्ति के चरणों में ही न्योछावर होती रही है उसी तरह संस्कृति और कला भी उसी के प्रीत्यर्थ अपने को कृतार्थ करती आयी है। जनता निर्धन और समाज संस्कृति-शून्य बना रहा।

यदि कला-भवनों, चित्रशालाओं और सांस्कृतिक केन्द्रों से जन-जन में प्राण-सञ्चारण नहीं हो सकता, यदि वे कुछ बुद्धिजीवियों की

आजीविका के निश्चिन्त साधन और मिथ्या-महत्ता के प्रदर्शन मात्र हैं तो उन्हें बन्द कर देना चाहिये।

संस्कारिता की दृष्टि से देखने पर सर्वसाधारण ही नहीं, बल्कि विशिष्ट जन भी प्रायः जीवन के निम्न धरातल पर ही दीख पड़ते हैं। क्या निर्धन, क्या सम्पन्न, क्या शिक्षित, क्या अशिक्षित, क्या आदर्श-वादी, क्या यथार्थवादी, सब एक ही सतह पर हैं; सबके जीवन की दैनिक प्रणाली एक-सी ही दूषित, कुत्सित, असंस्कृत है। सिर्फ रोजी कमाने के ढंग अलग-अलग हैं। सब वस्त्रों से ढँके हुए पशु हैं। पशुओं की तरह ही उनकी ऐन्द्रिक क्रियाओं में अन्तर्विवेक का अभाव है। लोग बड़ी लापरवाही से इधर-उधर थूक देते हैं, इधर-उधर मल-मूत्र कर देते हैं। इसका कारण बोर्डों और कारपोरेशनों की दुर्व्यवस्था भी है। वहाँ भी तो अच्छे वस्त्रों में अपरिष्कृत स्वभाव के लोग हो सकते हैं। असल में संस्कृति की आरम्भिक शिक्षा (संस्कारिता) देश के किसी वर्ग को नहीं मिली, न तो घरों में, न समाज में, न विद्यालयों में। पूँजीवादी शासन ने सब को केवल उदरम्भरि पशु बनाया। यदि जनता में सांस्कृतिक चेतना आ जाय तो कृत्रिम भद्र लोगों को भी सुसंस्कृत बनना ही पड़ेगा।

हम देखते हैं कि धर्म्म के नाम पर हिन्दुओं-मुसलमानों में भेद-भाव है, लेकिन कौन हिन्दू है, कौन मुसलमान, इसकी पहिचान क्या?—यह दोनों के दैनिक कृत्यों से जाना जा सकता है। काशी में हिन्दू कहे जाने वाले लोग घाट की सीढ़ियों पर पेशाब करते हैं।

उच्च जातियों के मुहल्ले भी उतने ही गन्दे हैं, जितने भङ्गियों और मुसलमानों के। लोग सोचते हैं, हमारी गन्दगी भङ्गी साफ कर देगा। आप क्या बच्चे हैं और भङ्गी क्या माँ है जो बड़ी ममता से आप की नादानी का नाज उठाता रहेगा।

मनुष्य जड़ नहीं, चेतन है; चेतनारहित क्रियाएँ इन्द्रियों की अराजकता मात्र हैं। इन्द्रियों में सक्रियता है, जागरूकता नहीं। सुषुप्त मन की निश्शृंखलताओं की तरह मनुष्य की ऐन्द्रिय क्रियाएँ अनियन्त्रित और अशोभन हो गयी हैं। मानवता का तक़ाज़ा है कि हम अपनी इन्द्रियों पर चेतना का आधिपत्य स्थापित कर गो-स्वामी बनें।

आश्चर्य्य है कि जो मनुष्य अपने वस्त्रों, आभूषणों, इमारतों की सुन्दरता में सचेष्ट रहता है वह अपनी आदतों में कुरूपता कैसे बरदाश्त कर लेता है। वह भीतर निर्जीव और बाहर प्रदर्शन-प्रिय है!

वस्तु में, व्यवस्था में, स्वभाव में, व्यवहार में, आहार में, विहार में, प्रतिदिन के क्रियाकलाप में सुरुचि का ही नाम है सुन्दरता, वही है प्राणी में प्राणित्व की चेतना, उसी की अभिव्यक्ति है कला, उसी की परिणति है संस्कृति। चेतना में, कला में, संस्कृति में, जो कुछ जीवन के विकास के लिए अनिवार्य्य है उसी का धारण है धर्म्म।

यदि हमारी नन्हीं-सी नन्हीं आदत में भी सुरुचि का समावेश हो जाय तो वही एक अच्छी टेव बन कर सभी कार्यों को ललित-कलित बना देगी। गान्धी जी अखबारों और पत्र-पत्रिकाओं के रैपर खूबसूरती से काट-छाँट कर सुन्दर स्लिप बना देते थे। सुरुचिपूर्वक एक नित्यकृत्य की साधना सभी सुकृत्यों की साधना का मूल है—'जो तू सींचे मूल को फूले-फले अघाय।'

हमारे प्रति दिन की छोटी-मोटी बातें—खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना, चलना-फिरना, हिलना-मिलना, बात-बर्ताव, हाट-बाट, घर-

द्वार, झाड़-बुहार, अपनाव-दुराव, साज-सँवार, सेवा-सत्कार, इन्हीं की संस्कारिता में संस्कृति का मूल है।

हम लोग संस्कृति और कला की बड़ी-बड़ी बातों और राजनीतिक वाद-विवादों में समय का अपव्यय करते हैं। आवश्यकता है हम जहाँ खड़े हैं, जहाँ हमारे पैर हैं, वहीं के अगल-बगल की धरती को अपनी संस्कारिता से सुन्दर बनाने का प्रयत्न करें।

यहाँ मैं अपने एक निजी प्रयोग की बात कहना चाहता हूँ। मैं जब कभी मीठा या फल (आम) खाता हूँ तो राह बाट से अलग एक कोने में बैठ कर। मीठे की जूठन गिर जाने से चींटियों की मौत आ जाती है (जो धार्म्मिक दृष्टि से भी अनुचित है), इसलिए मीठी चीजें राह में नहीं खानी चाहिये।

आम खाते समय मैं अपने सामने एक रद्दी अखबार रख लेता हूँ, उसी में उसके छिलके और गुठलियाँ रखता जाता हूँ। खा लेने पर छिलके और गुठलियाँ इधर-उधर घूमनेवाली गौओं, बछड़ों या साँड़ों के सामने डाल देता हूँ या राह से अलग किसी ऐसी जगह रख देता हूँ जहाँ वे घूमते-फिरते आ सकते हैं। इस तरह फल का पूरा सदुपयोग हो जाता है, मैंने भी खाया और उसके छिलके भी काम आ गये, रास्ते में गन्दगी भी नहीं होने पायी।

मेरे नागरिक बन्धु चाहें तो वे भी छोटी-छोटी बातों में सुरुचि का प्रयोग करके जीवन की कला का आनन्द ले सकते हैं और समाज को सुखी कर सकते हैं।

कहाँ तक गिनायें, तन और मन की सभी क्रियाओं में हमें अपने सचेतन मनुष्यत्व की संस्कारिता का परिचय देना है। हमारे

नागरिकों को अभी ठीक ढंग से उठना-बैठना-चलना भी नहीं आता। सब कुछ भेड़ियाधँसान है।

छोटे-छोटे शहरों और गाँवों के बोर्डों को भी जनता में संस्कारिता लाने का प्रयत्न करना चाहिये। क्या बड़े-बड़े नगर, क्या छोटे-छोटे शहर और क्या मामूली से मामूली गाँव; आदमी तो सब जगह हैं, उन्हें पशु से मनुष्य बनाना है; चाहे वे किसी भी वर्ग और किसी भी विभाग में हों।

सच्ची बात तो यह है कि ऊपर के आदेशों-निषेधों और विधि-विधानों से मनुष्य का भीतरी सुधार नहीं हो सकता। संसार में इतने कानूनों से क्या अपराधों की संख्या कम हो गई? विधि-विधानों से मनुष्य को भयभीत किया जा सकता है, कर्त्तव्य का अनुरागी नहीं बनाया जा सकता। हमें मनुष्य को आत्मभीरु नहीं, कर्म्मवीर बनाना है।

आवश्यकता इस बात की है कि कर्त्तव्य के प्रति मनुष्य की अन्तःप्रेरणा जगाई जाय। हमें नागरिकता नहीं, संस्कारिता चाहिये। नागरिकता में पारस्परिक स्वार्थों का सामूहिक सङ्गठन है, संस्कारिता में सामाजिक चेतना का अन्तःप्रस्फुटन। संस्कारिता के बिना नागरिकता पुलिस, वकील, जज इत्यादि सरकारी अथवा अर्द्धसरकारी पदाधिकारियों की कृत्रिम कर्त्तव्यपरायणता की तरह है। पुलिस की परेड, सेना की कवायद और कालेजों-युनिवर्सिटियों में सैनिक शिक्षा से अधिक आवश्यक है संस्कारिता जगाना। सरकस की ट्रेनिंग से हमारा काम नहीं चलेगा।

हमें मनुष्य को मानसिक स्नान करा कर दुष्प्रवत्तियों का परिष्कार करना है। संस्कारिता का अङ्कुर जनता के अन्तःकरण से

फूटना चाहिये। सड़कों पर झाड़ू लगाने और हरिजनों का उद्धार करने से जन-मन का परिष्कार नहीं हो सकेगा। बाहर की गन्दगी तो लाक्षणिक है, सबसे बड़ी गन्दगी मनुष्य के भीतर उसकी दुष्प्रवृत्तियों में है।

[२]

मनुष्य को सुसंस्कृत बनाने के लिए, उसमें संस्कृति का अनुराग जगाने के लिए, सुरुचिपूर्ण साहित्यकारों और कलाकारों से सहयोग लेना चाहिये।

साहित्य और कला की मार्मिकता रस, भाव और सौन्दर्य्य में है। इन्हीं से सृजन के लिए प्राणी प्रेरणा पाता आया है।

जनता की रसात्मक वृत्ति को जब जीवन-निर्म्माण के कार्य्यों में भी रमा दिया जायगा तब कर्त्तव्य के प्रति उसमें स्वयं आकर्षण आ जायगा, जनता काज को सुकाज बनाने के लिए लालायित हो उठेगी, काम को बेगार समझ कर नहीं बल्कि एक जीवन-शिल्प के रूप में अपनायेगी। शादी-ब्याह की तरह ही हमें प्रत्येक कार्य्य को एक मनोरम समारोह का रूप दे देना है। हमें जनता में कर्म्म का सौन्दर्य्यानुराग जगाना है।

संस्कारिता के लिए ही नहीं, बल्कि आजीविका के लिए भी हमें जनता को स्वावलम्बी बनाना है। जनता का ध्यान अर्थोपार्जन की ओर ही केन्द्रित हो जाने के कारण वह जीवन की अन्य बातों की ओर दृष्टिपात नहीं कर पाती, उसका हृदय स्वार्थ-सङ्कीर्ण हो गया है। यह पूँजीवाद का अभिशाप है। पूँजीवाद गान्धी जी के ग्रामोद्योग से ही दूर हो सकता है, और किसी तरह नहीं;

शायद शीघ्र ही संसार के सभी देशों को इस बात का अनुभव करना पड़ेगा।

ग्रामोद्योग (कृषि और दस्तकारी) से ही जनता को आजीविका का घरेलू स्वावलम्बन मिलेगा; उसे आज की तरह पूँजीपतियों, भ्रष्टाचारियों और पदाधिकारियों का मुँह नहीं जोहना पड़ेगा। उद्योग के अनुरूप ही संस्कृति (मनोयोग) का भी प्रादुर्भाव होगा।

जहाँ-जहाँ ग्रामोद्योग के केन्द्र खुलें वहाँ-वहाँ मनोयोग (संस्कृति और कला) के केन्द्र भी परिपूरक-रूप में खुलने चाहिये, क्योंकि उद्योग ही पर्य्याप्त नहीं है, उसके साथ-साथ भाव-योग, मनोयोग, आत्मयोग भी अपेक्षित है। मध्यकाल में जब कृषि और दस्तकारी का युग था उस समय भी सन्तों, साधकों और साहित्यकारों के सहयोग से ही साहित्य, संस्कृति और कला की उन्नति हो सकी।

ग्रामोद्योग और भावयोग-द्वारा तन-मन से जनता के स्वावलम्बी बन जाने पर, सरकारों का कर्त्तव्य केवल इतना रह जायगा कि वे अन्तर्राष्ट्रीय विपत्तियों से देश की रक्षा करती रहें। उनका अस्तित्व एक राजनीतिक प्रहरी के रूप में रह जायगा। यदि ठोकरें खाकर सारा संसार कभी उचित रास्ते पर चल पड़ा तो पूँजीपतियों, उद्योगपतियों की तरह सरकारों की भी आवश्यकता नहीं रह जायगी।

काशी,
सन् १९४०

त्रिवेणी के अञ्चल में

"मनुष्य ने मनुष्य के प्रति अपने दुर्व्यवहार को इतना स्वाभाविक बना लिया है कि उसका अभाव विस्मय उत्पन्न करता है और उपस्थिति साधारण लगती है।"

—(महादेवी, 'स्मृति की रेखाएँ')

प्राक्कथन

मैं एक ऐसे युग के वायुमण्डल में बोल रहा हूँ जब पृथ्वी दो महायुद्ध देख चुकी है। युद्धों की जो भीषणता रणक्षेत्र में भयावनी लगती है वही तो समाज में भी फैली हुई है। समाज में बिखरी विषमताएँ और क्षुद्रताएँ ही तो पुञ्जीभूत होकर महायुद्ध का रूप ले लेती हैं। रणक्षेत्र की तरह ही निर्दय सामाजिक वातावरण में मेरे निःसम्बल जीवन का आरम्भ हुआ।

भावप्रवण संस्कारों से प्रेरित होकर काल-प्रवाह में बहता-बहता मैं साहित्य-क्षेत्र में चला आया। क्या साहित्य-जगत् का वातावरण दैनिक जगत् से भिन्न था? क्या निर्दय जगत् उसमें सहृदय हो गया था? उँह, तब मुझे इन बातों की क्या खोज-खबर थी!

वय से वयस्क हो जाने पर भी अभी कल तक सांसारिक दृष्टि से मैं बिलकुल नाबालिग था। अनेक असुविधाओं को झेलते हुए भी दुनिया के दाँव-पेंच से अनभिज्ञ था। शोषित और पीड़ित होते हुए भी वस्तुस्थिति से अबोध था। राजनीति की तरह साहित्य में भी तरह-तरह के नारे बुलन्द होने पर भी मैं उनकी

ओर से बहिरा था। आज भी तो बहिरा ही हूँ। तब और अब में अन्तर यह है कि वास्तविकता और कूटनीतिज्ञता से परिचित हो चला हूँ, किन्तु उसे अपना स्वभाव नहीं बना पाया हूँ। बाहर का तुमुल कोलाहल मेरे कान के परदों से टकरा कर बाहर ही लौट जाता है, वह भीतर नहीं प्रवेश कर पाता। आज की मेरी मनःस्थिति तो ऐसी ही है, कल की प्रभु जानें!

समाधि के भीतर जैसे कभी-कभी बाहर की भी भनक पहुँच जाती है, वैसे ही मेरे वधिर कानों में संसार का नगाड़ा भी गूँज उठता है।······छायावाद की कविता जब अपने क्लाइमेक्स पर पहुँच रही थी तब प्रगतिवाद का ढोल सुनाई पड़ा। मेरा भूखा-प्यासा-शरीर उस पर लुब्ध नहीं हो सका, क्योंकि उसमें अन्तः स्पर्श नहीं था, सत्त्वोद्रेक नहीं था; था एक तामसिक विद्वेष, राजनीतिक राग-द्वेष।

प्रगतिवाद तो वाङ्मय में आ गया, किन्तु शासन में अपना स्थान नहीं बना सका। देखते-देखते देश में कांग्रेसी सरकारें स्थापित हो गईं। अब एक और आवाज सुनाई देने लगी। यह आवाज थी द्विवेदी-युग तथा छायावाद-युग के साहित्यकारों की। उन्होंने कहा—शासन साहित्यिकों की उपेक्षा कर रहा है। साहित्यिकों का महत्त्व राजनीतिज्ञों से अधिक है।···

इस तरह की बातें सुन कर मुझे तो प्रसन्न होना चाहिये था, क्योंकि यह साहित्यिकों के स्वाभिमान का उद्घोष था; किन्तु सस्ती प्रसन्नता के पीछे मैं नहीं दौड़ता। मुझे ऐसा लगा कि इन बाहर की आवाजों में गहराई नहीं है, ये केवल वैयक्तिक प्रतिक्रियाएँ हैं, जिन्हें स्वार्थों की गुटबन्दी के लिए सामूहिक रूप दे दिया गया है।*

* अब कुछ साहित्यक व्यक्तियों को केन्द्रीय और प्रान्तीय कांग्रेसी शासन में स्थान मिल गया है।

क्या साहित्यकार और राजनीतिज्ञ के बीच कोई विभाजक रेखा खींची जा सकती है ? साहित्यिकों में भी राजनीतिज्ञ हैं और राजनीतिज्ञों में भी साहित्यिक हैं। कहा जा सकता है कि साहित्यकार अधिक संवेदनशील सामाजिक प्राणी होता है। इस दृष्टि से राजनीतिज्ञों में भी उदार व्यक्ति मिल सकते हैं और साहित्यिकों में भी अनुदार व्यक्ति। क्या साहित्यकार, साहित्यकार के प्रति न्याय करता है ? समाज की तरह साहित्य-क्षेत्र में भी सम्पन्नता और निर्धनता है। एक सम्पन्न साहित्यकार, किसी सर्वहारा साहित्यकार की क्या सहायता करता है ? जन-साधारण में सहयोग की जितनी सद्भावना है, साहित्य-क्षेत्र में उतनी भी तो नहीं दिखाई देती। रणक्षेत्र में आहतों के लिए सेवा का एक विधान है, किन्तु मानवता के क्षेत्र साहित्य में न सेवा है, न समवेदना; है केवल आत्मप्रदर्शन और आडम्बर।

सच तो यह है कि साहित्य-क्षेत्र में भी शोषण चल रहा है। अभी कल तक बड़ी-बड़ी आयवाले प्रोफेसर पाठ्य-पुस्तकों के लिए प्रतिस्पर्द्धा करते थे।—(बचपन में हम लोगों को जैसी उपयोगी पुस्तकें पढ़ने को मिलती थीं, अब वैसी कहाँ मिलती हैं !)—छोटे-छोटे अध्यापक जिस मनोयोग से बच्चों को पढ़ाते थे, उसी मनोयोग से वे उनके लिए पुस्तकें भी लिखते थे; उनमें एक पारिवारिक गुरुत्व था, हार्दिक ममत्व था, सामाजिक दायित्व था। आह, कहाँ हैं अब वे बच्चे, कहाँ हैं वे अध्यापक ! सब भीषण शोषण के निरीह ग्रास बन गये !!

पूँजीवादी प्रतिस्पर्द्धा ने जीवन के सभी क्षेत्रों में एक सर्वग्रासी प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी है। इस प्रवृत्ति का दुष्प्रभाव साहित्य-क्षेत्र पर भी पड़ा है। साहित्यिक संस्थाओं में गुटबन्दियाँ और

तू-तू मैं-मैं होने लगी है।* छोटे-छोटे छुटभैयों से लेकर बड़े-बड़े कर्णधारों तक की गति-मति एक-सी हो गई है। सबके स्वार्थ हिंस्र पशुओं की तरह घात-प्रतिघात कर रहे हैं। एक विकृति अर्थशास्त्र के वातावरण में ऐसा ही विपाक्त परिणाम सम्भव था। आज किसे नगण्य कहें, किसे पूज्य? सब तो निश्चेतन हो गये हैं। व्यक्तियों और संस्थाओं को हम कहाँ-कहाँ तक देखेंगे, कहाँ-कहाँ तक सुधारेंगे! सबको प्रकृतिस्थ करने के लिए दूषित अर्थशास्त्र को ही बदल देना चाहिये।

क्या कम्युनिज्म अथवा प्रगतिवाद से विकृत अर्थशास्त्र बदल सकता है? मैं तो प्रगतिवादियों से भी अधिक क्रान्तिकारी हूँ। प्रगतिवाद मुद्रागत अर्थशास्त्र की विषमता (विषाक्तता) को ही समान वितरण से सन्तुलित करता है, मैं विषमता के बीज (मुद्रा) को ही निर्मूल होते देखना चाहता हूँ। 'ज्योति-विहग' के 'प्रगति, संस्कृति और कला' शीर्षक लेख में मैंने लिखा है—"मनुष्य-मनुष्य के बीच में अविश्वास-सूचक निर्जीव माध्यम (मुद्रा) रख कर उससे किसी सजीव (सांस्कृतिक अथवा आन्तरिक निर्माण) की आशा नहीं की जा सकती।"—इन शब्दों में स्पष्टतः मेरा साध्य और साधन गान्धीवाद अथवा सर्वोदय की दिशा में है। जिस दिन मुद्रागत अर्थशास्त्र का अन्त होगा, उसी दिन नवीन मानव का जन्म होगा। अभी तो विविध रूपों और विविध राजनैतिक नारों में आदिम मानव (बर्बर दानव) ही खुल-खेल रहा है। आवश्यकता है मनुष्य के उन सहृदय सामाजिक सम्बन्धों के पुनर्जागरण की, जो अभी कल

* राजनीतिक संस्थाओं में भी ऐसा ही दुर्दृश्य दिखाई देता है। साहित्यिक संस्थाओं में उन्हीं की प्रतिच्छाया है।

तक देहातों की धरती में जीवन्त थे। मैं राजनैतिक साम्यवाद नहीं, सामाजिक ग्राम्यवाद चाहता हूँ।

उस दिन प्रयाग के 'परिमल' द्वारा आयोजित गोष्ठी में जब बाबू मैथिलीशरण गुप्त की वर्षगाँठ (जयन्ती) मनाई जा रही थी, तब मैंने कहा था—यह जयन्ती वगैरह व्यर्थ है, चाहे यह साहित्यिकों की हो, चाहे नेताओं की। यह केवल एक रिवाज को निभाना है, इसमें कोई जीवन नहीं है, अन्तःस्पन्दन नहीं है। कवि के शब्दों में—

रोना-गाना यहाँ चलन भर,
आता उसमें उभर न अन्तर।

मेरा सङ्केत यह था कि जिस उत्साह का अपव्यय इन निरर्थक प्रदर्शनों में किया जाता है, उसे किसी रचनात्मक कार्य्य में लगा कर समय, साधन और शक्ति का सदुपयोग किया जाय। इसीलिए गान्धी जी ने गान्धी-जयन्ती को चर्खा-जयन्ती का रूप दे दिया था। इधर नेहरू जी ने अपनी जन्मगाँठ को शिशु-सम्मिलन में परिणत कर दिया है। जयन्तियों के रूप में इसी तरह विविध रचनात्मक पहलुओं की ओर ध्यान दिलाने की जरूरत है। रचनात्मक कार्य्य के बिना साहित्यिकों और नेताओं की जयन्ती भी मूर्त्तिपूजा मात्र रह जायगी।

रचनात्मक प्रतिभा के अभाव में इस समय देश की अकर्मण्यता जयन्तियों, अभिनन्दन-ग्रन्थों और कला-प्रदर्शनों में व्यक्त हो रही है। इसके अतिरिक्त पुरानी पाण्डुलिपियों की खोज चल रही है और पुरातत्त्व के अवशेषों को म्यूजियमों में सुरक्षित रखा जा रहा है। इन सब प्रयत्नों की सार्थकता क्या है? क्या इनसे संस्कृति, कला और आदर्शों की रक्षा हो जायगी? सूर, तुलसी,

मीरा, कबीर की रचनाएँ और भारत की प्राचीन स्मृतियाँ आज भी इसलिए उपलब्ध हैं कि इनकी जीवनीशक्ति जनता के जीवन में थी। आज की तरह ही जनता यदि अपने अतीत में ही जीवन्मृत हो जाती तो इनका अवशेष भी शेष नहीं रह जाता। प्राचीन निधियों की सुरक्षा का प्रयास तभी दूरदर्शितापूर्ण कहा जा सकता है जब उनके लिए अनुकूल वातावरण बनाया जाय, उनके अनुरूप जीवन-निर्म्माण किया जाय, अन्यथा उनका अस्तित्व कब्रिस्तानों में शव की तरह ही हो जायगा। कवि कहता है—

> मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
> आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति !!
> शव को दें हम रूप-रंग आदर मानव का ?
> मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का ?

❀ ❀

ऐसे ही अशिव युग में, किशोरावस्था में एक आदर्शवादी निबन्ध-लेखक के रूप में, इसके बाद कवि के रूप में, तत्पश्चात् छायावाद के समीक्षक के रूप में मैं साहित्य-जगत् में आया।

संन्यासी पिता, गृहवत्सला माता और कलावन्ती तपस्विनी बालविधवा बहिन के सान्निध्य में मेरे बाल्यसंस्कारों का सृजन-सिञ्चन हुआ था। शैशव से ही मुझे अन्तर्जगत् की भाव-सम्पदा मिल गई थी, किन्तु बाह्य जगत् से कुछ भी नहीं मिला—न तन, न धन, न सुहृद् जन। हिन्दी में मुझसे अधिक निर्बल, निर्धन, निर्जन साहित्यकार शायद ही कोई हो। 'कमलेश' से बातचीत करते हुए मैंने कहा था—"मेरा तो खयाल है कि एक किसान भी मेरी अपेक्षा अधिक सम्पन्न स्थिति का प्राणी है। देहात में बचपन

बिताते हुए, वहाँ की घोरतम दरिद्रता में हवा और पानी से ही मैं प्राणवायु ग्रहण कर सका।"...

पहिले मैंने संसार को उसके बाहरी रूप-रङ्ग में ही देखा था। शिशु जैसे अपनी ही भावना से मनोहर बना कर खिलौनों और आसपास के दृश्यों को देखता है, वैसे ही मैं भी संसार को देखता था। अभी हाल में जब कलकत्ते जा रहा था, तब प्रातःकाल नींद खुलने पर क्षण-भर के लिए फिर मेरी वही शिशु-दृष्टि लौट आई। ट्रेन की खिड़की के सामने एक रंगीन इमारत दिखाई पड़ी—कैसी मनभावनी! दूसरे क्षण ही मैंने सोचा—इसके भीतर का जीवन न जाने कितना बदरंग होगा, न जाने वहाँ कितना रौरव-क्रन्दन होगा!

जिस दिन से जीवन में मैं शोषण का अनुभव करने लगा उस दिन से संसार का वास्तविक रूप स्पष्ट हो गया। 'पाँच कहानियाँ' के पीताम्बर की-सी ही मेरी भी स्थिति हो गई है—"दुख, दैन्य, अभाव और दुर्भाग्य के जीवन-प्रवाह के तट पर ठूँठ की तरह खड़ा, उसके तीक्ष्ण कटु आघातों से लड़ता हुआ पीताम्बर उस अभाववाचक स्थिति पर पहुँच गया है जहाँ उस पर आशा, तृष्णा, लोभ, जीवनेच्छा, सौन्दर्य्य, स्पर्धा, मोह, ममता, उम्र आदि भाववाचक विभूतियों के अत्याचार-उत्पात का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता।"

वास्तविकता से सर्वथा शुष्क हो जाने के पहिले मैंने 'परिव्राजक की प्रजा' लिखना शुरू किया। ग्रीष्म के प्रभात में जब सोकर उठता था तब नील गगन, गङ्गातट और चारों ओर के उन्मुक्त प्राकृतिक वातावरण में बाल्यकाल इतना सजीव हो उठता था कि वर्षों का व्यवधान पड़ जाने पर भी वह कल-जैसा ही ताजा लगता था। वह इतना समीप जान पड़ता था कि सूरदास की तरह हाथ बढ़ा कर उसे अपनी बाँहों में गह लेना चाहता था।

शैशव की स्मृतियों में मैं फिर शिशु हो गया। उन दिनों की याद में हृदय रुलाई से भर आता था। आज भी दर्पण में जब अपना मुँह देखता हूँ तो उस सूधे-सादे दूबर-पातर गरीब ग्रामीण 'मुन्छन' को पहिचान लेता हूँ—पतले सीप-जैसे अधरों पर अब भी वह सरल सुन्दर है, अब भी सजल-स्निग्ध है, अब भी करुणा की प्रतिच्छवि है।

बाल्यकाल की तरलता में तैरता-खेलता मैं साहित्य-जगत् के तट पर आ लगा। जन्मजात भावुकता काव्य के जिस सौरभ से आमोदित थी उसी की सुगन्ध वह कवियों के व्यक्तिगत सम्पर्क में ढूँढ़ने लगी। कैसी भ्रामकता! वह सौरभ तो मेरे ही भीतर था। वर्ष पर वर्ष बीत गये, मैं भोला का भोला ही बना रहा।

......अरे यह क्या, वह ग्रामीण शिशु कहाँ चला गया! 'परिव्राजक की प्रजा' में अपने साहित्यिक अनुभवों को लिखते हुए वह प्रौढ़ हो गया। मैंने लिखा है—"जिन पुराने और नये साहित्यिकों के सम्पर्क में मैं आया उनमें सक्रिय संवेदना का अभाव जान पड़ा। पुराने साहित्यिकों में सामाजिक प्रगाढ़ता थी, किन्तु आत्मत्याग नहीं था। नये साहित्यिकों में स्वप्न था, किन्तु आत्म-त्याग के लिए कुछ नहीं था।"—क्या सचमुच कुछ नहीं था? क्या धन ही सब कुछ है, मन कोई चीज नहीं?

पुराने साहित्यिकों में मैं द्विवेदी-युग के कवियों* से परिचित हुआ, नये साहित्यिकों में छायावाद के कवियों से।

---

*सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, राय कृष्णदास, ठाकुर गोपालशरण सिंह, जयशङ्कर 'प्रसाद'।

छायावाद का आरम्भ 'प्रसाद' जी द्वारा काशी में हुआ था। वे तो रहे नहीं, अब छायावाद का काव्य-तीर्थ प्रयाग है।

प्रयाग धार्म्मिक दृष्टि से ही नहीं, साहित्यिक दृष्टि से भी इस समय तीर्थराज बना हुआ है। यहाँ की त्रिवेणी के अञ्चल में छायावाद के तीन महाकवि निवास कर रहे हैं—पण्डित सूर्य्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', श्री सुमित्रानन्दन पन्त, श्री महादेवी वर्म्मा। इन्हीं की स्मृति मेरी त्रिवेणी है। काव्य में छायावाद का विकास जितना परिष्कृत है, उतने ही प्राञ्जल व्यक्तित्व की आशा समाज में इन कवियों से की जाती थी।

[१]

निराला

छायावाद के प्रति मुझमें प्रेरणा उत्पन्न करने का सर्वप्रथम श्रेय निराला जी के मुक्तछन्द को है। भावुक होते हुए भी मुझे न तो छन्द का ज्ञान था, न अलङ्कार का। काव्य से भय लगता था। पुराने ढंग की कविताओं में जैसी नपी-तुली छन्दोबद्ध पंक्तियाँ रहती थीं, निराला जी का मुक्त पद उससे सर्वथा भिन्न था। स्वतन्त्र पगों की तरह ही उसमें गति की स्वतन्त्रता थी। जैसे बिना कवायद के ही लड़के दौड़ना और रुकना जानते हैं, वैसे ही पिङ्गल का अभ्यास न होने पर भी मैं मुक्तछन्द की गति-यति से परिचित हो गया। काव्य अब मेरा अन्तरङ्ग बन गया।

सन् १९२३-२४ में निराला जी की कविताएँ धारावाहिक रूप से प्रति सप्ताह 'मतवाला' के रङ्गीन मुखपृष्ठ पर प्रकाशित हो रही थीं। सन्' २४ में मैं 'माधुरी' कार्य्यालय में था। उन्हीं दिनों निराला जी के मुक्तछन्द और उन्मादक भावों के आरोह-अवरोह से मेरा हृदय भी

मैं निराला जी से अनमना रहने लगा। एक दिन उनका तकिया टेक कर कुछ लिख रहा था। निराला जी ने जब उसे माँगा तब मैंने दूर से ही फेंक दिया। उस तकिये का रहस्य मुझे मालूम नहीं था, वह सिला नहीं था, लपेटा हुआ था। फेंकते ही खुल गया, उसमें से दर्जी की दूकान की ढेर-सी कतरन गिर कर जमीन पर बिखर गई।

निराला जी से बेमेल हो जाने पर भी उनसे मैं मिलता रहा; कभी अकेले, कभी पद्मा और विजय के साथ। उनके आक्रोश का पात्र मैं ही बनता था। मेरी स्थिति उस भक्त की-सी थी जो बाबाजी के चिमटों का प्रहार सह कर भी अपनी श्रद्धा-भक्ति नहीं छोड़ता। उन दिनों निराला जी के साहित्यिक गौरव का कुछ ऐसा ही सम्मोहन मेरे ऊपर छाया हुआ था। मैं उन्हें गुरु-तुल्य पूज्य मानता था।

शुरू से ही निराला जी से मुझे शासन मिला। पद्मा और विजय की शिक्षा और सामाजिक स्थिति मुझसे अच्छी थी। उनमें कलकत्ते की नागरिकता थी। निराला जी उन दोनों से मित्रता की सतह पर बातचीत करते थे। क्या निराला जी भी बाह्य सांसारिक मूल्यों (विद्वत्ता, महत्ता, सम्पन्नता, शक्तिमत्ता) को ही विशेष महत्त्व नहीं देते? पन्त की बौद्धिक सहानुभूति की तरह क्या उनकी दार्शनिकता भी बौद्धिक ही है?

मैं था अल्पज्ञ ग्रामीण। जैसी ही नगण्य मेरी शिक्षा थी, वैसी ही मेरी सामाजिक स्थिति थी। न संसार का ज्ञान था, न साहित्य का। किन्तु जिस तरह शिशु कुछ भी न जानते-समझते हुए भी अपने मनोमुकुल में अज्ञात भाव से सब कुछ ग्रहण करता रहता है, जो रुचिकर होता है उसे सँजो लेता है, जो अरुचिकर होता है

उसे भूल जाता है, उसी तरह मैं भी भीतर ही भीतर अनजाने आत्मनिर्माण कर रहा था।.. ...

एक दिन 'मतवाला' आफिस में निराला जी के साथ बैठा हुआ था। हाथ में 'सरस्वती' आ गई। उसमें पन्त जी की एक कविता पढ़ने को मिली—'बालापन'—

चित्रकार ! क्या करुणा कर फिर
मेरा भोला बालापन
मेरे यौवन के अञ्चल में
चित्रित कर दोगे पावन ?

यह कविता मुझे अपनी उस समय की किशोरावस्था के अनुकूल ही सहज जान पड़ी। इसकी सरल-सरस भाषा और भोली-भाली भावना ने मेरे हृदय को मोह लिया। मैं निराला जी के सामने ही बोल उठा—यह कवि चाहे जहाँ कहीं होगा, पर्वत के शिखर पर होगा तो वहाँ भी जाऊँगा, मैं इससे मिलूँगा, आत्मीयता जोड़ूँगा।......

एक ओर 'मतवाला' में निराला जी की कविताएँ धारावाहिक रूप से छप रही थीं, दूसरी ओर 'सरस्वती' में पन्त जी की कविताएँ नियमित रूप से छप रही थीं। मैंने काव्य का संस्कार द्विवेदी-युग के कवियों की कविताओं से पाया था। वस्तुतः वह पद्य का संस्कार था, अतएव निराला और पन्त की कविताएँ अपनी कलात्मक नवीनता तथा भाव-भाषा और व्यञ्जना की नूतन छटा के कारण आकर्षक होते हुए भी प्रारम्भ में मेरी समझ में भली भाँति नहीं आती थीं। ऐसा लगता था कि उनमें कुछ है, जो प्राणों को स्पर्श करता है; क्या है, कहा नहीं जा सकता। उस समय मेरी मनः-स्थिति 'प्रसाद' की इस अनुभूति की तरह ही थी—

कछुक हौ, नहिं पै कहि जात हौ,
कछु लहौ, नहिं पै लहि जात हौ।

किन्तु मैं उस अकथ, अनिर्वच, अज्ञात, अस्पृश्य भाव-जगत् की ओर ही आकर्षित होता चला गया। छायावाद से मुझे अनुराग हो गया।

कलकत्ते से काशी लौटने पर मैं द्विवेदी-युग के बाद के कवियों की कविताओं का संग्रह 'परिचय' में करने लगा। इसमें द्विवेदी-युग के दो कवियों को भी स्थान मिला—सर्वश्री मुकुटधर पाण्डेय, सियारामशरण गुप्त। सच तो यह है कि छायावाद का आरम्भ द्विवेदी-युग में ही हो गया था। बाबू मैथिलीशरण गुप्त की 'झङ्कार' भी उसी समय प्रकाशित हो गई थी।

......सुस्निग्ध भाषा और मनोहर भावभङ्गिमा के कारण पन्त जी की कविता के प्रति मैं अतिशय अनुरक्त हो गया। जिस तरह निराला जी की कविताएँ पढ़ कर उनसे मिलने के लिए उत्सुक हो उठा था, उसी तरह पन्त जी की कविताएँ पढ़ कर उनसे भी मिलने के लिए उत्सुक हो उठा। वे उन दिनों प्रयाग में ही थे। 'परिचय' के सङ्कलन-काल (सन्' २६) में ही मैं उनसे वहाँ जाकर मिला। उनका 'पल्लव' छप रहा था। कवि के उस प्रथम साक्षात् से मैं कितना अभिभूत हो गया था, यह 'ज्योति-विहग' और 'परिव्राजक की प्रजा' में यथास्थान लिख चुका हूँ। किन्तु एक बात ओझल ही रह गई है। 'बालापन' शीर्षक कविता पढ़ कर कवि से जिस आत्मीयता को जोड़ने के लिए लालायित हो उठा था, वह आत्मीयता जुड़ नहीं सकी।......

परियों की कहानी सुन-सुन कर बच्चे जिस तरह बिना देखे ही

परियों का एक चित्र अपने मन में बना लेते हैं, उसी तरह मैंने भी पन्त की कविताएँ पढ़-पढ़ कर उनका एक अत्यन्त सुकोमल चित्र अपने मन में बना लिया था। ऐसे कमनीय कवि को कभी इस पृथ्वी पर प्रत्यक्ष देख सकूँगा, इस सौभाग्य पर विश्वास नहीं होता था। किन्तु कभी-कभी पृथ्वी पर भी नन्दन-कुसुम खिल पड़ते हैं।

मुझमें और पन्त जी में आकाश-पाताल का अन्तर था। वे आधुनिक शिक्षा के प्राञ्जलतम तरुण-विकास थे, 'पल्लव' के कवि थे; मैं 'ग्राम्य' का अनगढ़ किशोर था। मेले में जाने के लिए शिशु जिस तरह बन-ठन कर भी अपनी लघुता में आत्महीनता का अनुभव करता है, उसी तरह मैं भी पन्त से मिलने के लिए प्रयाग जाते समय सङ्कोच का अनुभव कर रहा था। एक तो मेरी पल्लव-ग्राही विद्या-बुद्धि, दूसरे मेरी श्रुतिमन्दता (बधिरता)!

विजिटिंग कार्ड की तरह उस समय का मेरा वेशविन्यास ही परिचय के लिए पर्याप्त था। जैसे काव्य-कला में मैं नौसिखुवा था, वैसे ही वेश-विन्यास और व्यक्तित्व में भी। कवि जैसा ही सुघर था, मुलाकाती वैसा ही विरूप था। पन्त जी को क्या उस निपट नादान नवागन्तुक किशोर की अब भी कुछ याद है ?...

पन्त जी का मनोविकास एक भिन्न प्रकार से हुआ था। वे प्रकृति के पलनों में पले और ऐश्वर्य की गोद में खिले। जन-साधारण के साथ उनका सामाजिक साम्य नहीं था। अतएव निराला जी से मेरी जैसी परिस्थिति के प्राणी के लिए जिस मनोवैज्ञानिक कन्सेशन की आशा की जा सकती थी, वह पन्त जी से नहीं।

निराला जी से जब मैं पहिली बार मिला था तब कदाचित्

उन्होंने मुझे भी पद्मा और विजय जैसा ही सुशिक्षित समझ कर अपने आतिथ्य में ले लिया था। किन्तु मैं तो सिन्धु के सामने बिन्दु की तरह था। मेरी अकिञ्चनता स्पष्ट हो जाने पर वे मुझे भी 'दीन', 'भिक्षुक', 'विधवा' की तरह अपनी सहृदयता का चित्रपट बना सकते थे। उस समय के अविकच नागरिक और अर्द्धविकच ग्रामीण को उन्हीं से सहानुभूति मिलनी चाहिये थी, क्योंकि वे स्वयं मूलतः बैसवाड़े के ग्रामीण थे। बैसवाड़े की परुषता प्रसिद्ध है, किन्तु निराला जी तो बङ्गीय कवि भी थे।

यदि छायावाद के ये दोनों कवि व्यक्तिगत जीवन में बहुत 'सबजेक्टिव' नहीं होते, अपनी महत्ता (अहम्) को थोड़ा लचा सकते, तो पृथ्वी के तृण-तृण, कण-कण को भी अपनी छाया दे सकते थे।*

निराला जी से जब मैं मिला तब उनसे उनके मानसिक स्तर पर ही उनके सम्पर्क में आया, क्योंकि उनका कवि-व्यक्तित्व पृथ्वी के भीतर से ही आकाश में उठा था, मुझमें भी उन्हीं की तरह पृथ्वी का गद्य-संस्कार था। किन्तु पन्त जी इस पृथ्वी के प्राणी नहीं थे, 'वीचि-विलास' की 'वारि-वेलि' की तरह ही 'अमूल' थे।

उस समय निराला जी की विद्वत्ता और पन्त जी की कलाकारिता में मैं समाविष्ट नहीं हो सका, बेमेल हो गया। तब मेरी उम्र ही क्या थी, अनुभव ही क्या था, शिक्षा ही क्या थी! थोड़ी-सी भावुकता की पूँजी थी,—उसी को लेकर सन्' २० में हिन्दी का

---

* 'ग्राम्या' में पन्त जी ने यही प्रयास किया है, किन्तु उसमें उनकी सहानुभूति बौद्धिक (मौखिक) ही रह गई है।

चौथा दर्जा पास कर भव-सागर में बह रहा था। उस समय मैं बाल-मनोविज्ञान का पात्र था।......

निराला जी ने पन्त जी को एक पत्र में पद्मा का उल्लेख करते हुए लिखा था कि नये साथियों में से एक उनकी कविता का अनुरागी है। प्रयाग की उस यात्रा में जब मैं पन्त जी से मिला, तब उन्होंने मुझे ही पद्मा समझ कर कहा—निराला जी आपके सम्बन्ध में लिख चुके हैं। किन्तु वार्त्तालाप से हो स्पष्ट हो गया कि निराला जी का उल्लिखित पात्र मैं नहीं हूँ। मुझमें कुछ ऐसी आत्महीनता थी कि पन्त जी से अपनी अयोग्यता और बधिरता को छिपा लेना चाहा। जिस कवि को मैं शोभा-सुषमा में ग्रहण कर चुका था, उसे अपनी कुरूपता से कण्टकित नहीं होने देना चाहता था।

पन्त की कविता में उनका जो ललित-कलित कविरूप है, वही मुझे उनके प्रत्यक्ष दर्शन में मिला। यह एक योगायोग ही है कि जिस कवि को अन्तःकरण से चाहता था उसे पाकर भी पा नहीं सका। पन्त की कविता से मेरा हृदय झंकृत था किन्तु उनके व्यक्तित्व की लय-साधना मुझमें नहीं थी। गीतकाव्य के सम्मुख मेरी स्थिति अतुकान्त की तरह थी। अपने बेतुकेपन से पहली भेंट में ही पन्त को खिझा दिया।

तब मैं अंग्रेजी की वर्णमाला भी नहीं जानता था। मेरा साहित्यिक सम्बल केवल मुक्तछन्द था। 'पल्लव' के 'प्रवेश' का प्रूफ पन्त जी के पास था। उसमें उन्होंने निराला जी के मुक्तछन्द को बँगला-प्रभाव के कारण हिन्दी के लिए अस्वाभाविक सिद्ध किया था। अपनी विज्ञता दिखलाने के लिए मैंने कहा—यह छन्द तो अंग्रेजी में भी है। पन्त जी एक मोटी-सी अंग्रेजी कविता-पुस्तक उठा लाये। उन्होंने कहा—इसमें मुक्तछन्द कहाँ है? मैं

पुस्तक में छोटी-बड़ी सतरें खोजने लगा। अंग्रेजी जानता होता तो 'फ्री वर्स' का खोज निकालता। 'ब्लैंक वर्स' को ही फ्री वर्स समझता था।

इसी तरह के अटपटे प्रसङ्गों में अपनी अपटुता से पन्त जी को अप्रसन्न कर दिया। उनके स्वभाव की भी एक अपनी स्वर-लिपि है। वह अपने ही सरगम में ठीक से बजता है।

मेरी अल्पज्ञता में भी पन्त जी मुझे अपने स्नेहोपहार से वञ्चित नहीं कर सके। अनुरोध करने पर उन्होंने अपनी 'छाया' शीर्षक कविता सुनाई थी। अहा, उनके स्वर में कैसी सरलता-मधुरता-मोहकता थी! मानों कोई अबोध विहग-बालिका पिहक रही हो।

पन्त के उसी कण्ठस्वर का उपहार लेकर जब मैं काशी आया तब मुग्ध भी था, रुष्ट भी था। मुग्ध था उनके व्यक्तित्त्व पर, रुष्ट था उनके विरल स्वभाव पर। तब मैं क्या जानता था कि उनके इसी विरल स्वभाव से उनका व्यक्तित्त्व बना है। 'पल्लव' की आरम्भिक भूमिका ('विज्ञापन') में पन्त जी ने लिखा है—"अन्त में व्याकरण से अपनी 'आइडिओसिनक्रेसी' (स्वभाव-वैषम्य) के लिए क्षमा-प्रार्थना कर विदा होता हूँ।"—प्रचलित प्रणालियों से सर्वथा भिन्न पन्त के इसी स्वभाव-वैषम्य (वैशिष्ट्य) में उनके काव्य और व्यक्तित्त्व का मौलिक सौन्दर्य्य है।

उस समय तो मुझे ऐसा जान पड़ा कि काव्य में आत्मैक्य होते हुए भी मुझमें और पन्त जी में बहुत सामाजिक वैषम्य है। सामाजिक दृष्टि से मुझे निराला जी अधिक निकट जान पड़े।......

'परिचय' प्रकाशित होने पर जब मैंने उसे निराला जी के पास भेजा, तब उन्होंने मेरी भाषा की प्रशंसा की। (मेरी भाषा पर पन्त का प्रभाव पड़ चुका था)।

कुछ दिन बाद ही (सन्' २७ में) निराला जी कलकत्ते से अचानक बनारस आ गये। आते ही उन्होंने सबसे पहले मुझे खोज निकाला।

इस बार निराला जी का व्यवहार बदला हुआ था। कलकत्ते से वे रुग्ण और अभावग्रस्त होकर आये थे। शारीरिक और आर्थिक कष्ट से पीड़ित होकर मेरे प्रति मृदु हो गये थे। काशी में मैं ही उनका स्वयंसेवक बना। मेरे ही माध्यम से 'प्रसाद' जी से उनका परिचय और अन्य साहित्यिकों से सम्मिलन हुआ।

शारीरिक और आर्थिक कष्ट के अतिरिक्त, निराला जी कलकत्ते से साहित्यिक असन्तोष भी ले आये थे। पन्त का 'पल्लव' प्रकाशित हो चुका था। अपने मुक्तछन्द की आलोचना देख कर निराला जी पन्त से बहुत नाराज थे। इसी का परिणाम 'पन्त और पल्लव'-शीर्षक उनका वृहत् लेख बना। प्रसाद जी ने भी उसे लिखने के लिए उन्हें प्रोत्साहित किया था।—(आज इतने दिनों बाद वह लेख असामयिक हो गया है)।

मैं तो पन्त का अभ्यन्तर से अनुगत था ही, निराला जी भी पन्त को बहुत मानते-जानते थे और आज भी वे पन्त से अधिक शायद ही किसी को मानते होंगे। डॉ० रामविलास शर्मा लिखते हैं—"शायद ही किन्हीं दो व्यक्तियों के स्वभाव में इतना अन्तर हो, जितना पन्त और निराला के। फिर भी दोनों ने न जाने

कितने दिन घण्टों एक साथ रह कर बिताये हैं। इसका यही कारण है कि वे एक-दूसरे को जितनी अच्छी तरह जानते-पहचानते और प्यार करते हैं, उतना शायद दूसरा कर ही नहीं सकता।"

क्या जहाँ सबसे अधिक ममता होती है, वहीं सबसे अधिक द्वन्द्व भी होता है!......

दस-बारह दिन बनारस रह कर निराला जी अपने घर (गढ़-कोला) चले गये। कुछ स्वस्थ होने पर लखनऊ में आदरणीय दुलारेलाल जी भार्गव के यहाँ काम करने लगे।

'पल्लव' के बाद पन्त जी भी रोगाक्रान्त होकर दिल्ली और अल-मोड़ा चले गये। निराला जी और पन्त जी से पत्र-व्यवहार-द्वारा ही मेरा सम्बन्ध-सूत्र बना रहा।...

सन्' ३० में स्वस्थ होकर पन्त जी जब पुनः प्रयाग आये, तब कालाकाँकर चले गये। वहीं रहने लगे। उनसे बराबर भेंट होती रही। स्वभाव, जीवन और सामाजिक स्थिति में वैषम्य होते हुए भी मानसिक सतह (साहित्यिक सतह) पर मैं पन्त से घनिष्ठ होता गया। व्यक्तिगत रूप से मैं उनसे कभी सन्तुष्ट नहीं हो सका। प्रयाग की पहिली भेंट में जिस तरह मेरी अयोग्यता (स्वल्प शिक्षा) और बधिरता के कारण हम लोगों के बीच एक व्यवधान बना हुआ था, वह दूर नहीं हो सका। यह व्यवधान ऐसा नहीं था जिसे स्नेह, सहानुभूति और सहयोग से दूर नहीं किया जा सकता।

मैं चाहता था कि अपनी स्वल्प शिक्षा की पूर्ति पन्त जी के

साहित्यिक अध्ययन से कर लूँ।* कालाकाँकर में मिलने पर मैं इसी के लिए प्रयत्न करता था। 'परिव्राजक की प्रजा' में मैंने लिखा है—"मैं जिज्ञासु था। अभ्यास की दृष्टि से पन्त जी की काव्य-सम्बन्धी साधना और आलोचना की दृष्टि से 'काव्यकला के आभ्यन्तरिक रूप' से परिचित होना चाहता था, जिसका सङ्केत उन्होंने 'पल्लव' के प्रवेश में किया था। किन्तु पन्त जी उन दिनों इतना आत्मनिगूढ़ रहते थे कि मुक्त हृदय से वार्त्तालाप नहीं कर पाते थे। इसका एक कारण यह भी था कि वे मन्दभाषी थे और मैं अपने श्रवण की तरह उस समय मस्तिष्क से भी असमर्थ था। पन्त जी की कलाकारिता के लिए एक जीवित समस्या था।"—यह समस्या उनके लिए भाव से कर्म्म और साहित्य से समाज की सतह पर आने के लिए एक आकस्मिक प्रेरणा के रूप में थी, जो बाद में 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में प्रतिफलित हुई।

उस समय पन्त जी आर्थिक दृष्टि से असमर्थ थे ही,—किन्तु सन्' २९ में रुग्ण हो जाने के बाद शारीरिक दृष्टि से इतने असमर्थ नहीं हो गये थे जितने असमर्थ सन्' ४४ की रुग्णता के बाद हो गये और अब फिर अत्यधिक श्रम से अस्वस्थ होते जा रहे हैं। आज पन्त जी की जो शारीरिक और मानसिक स्थिति है उसी से वे अनुमान कर सकते हैं कि हृदय से उन्हीं के अन्तर्जगत् का प्राणी होते हुए भी अनवरत शोषण के कारण मस्तिष्क और शरीर से क्षीण कैसा अनजान किशोर उनके साहित्यिक साहचर्य्य में आया था।

* वे मेरे ही तो अग्रणी थे। सन् १९१९ में हाईस्कूल की परीक्षा देकर पन्त जी जब बनारस से चले गये थे, मेरे अनजाने ही अपना पदचिह्न छोड़ गये थे, तब देहात से आकर मैंने प्राइमरी स्कूल में नाम लिखाया था।

जहाँ चाह है, वहाँ राह है। आज जब पन्त जी से भेंट होती है तब उनकी मन्दभाषिता और मेरी श्रुतिमन्दता की पूर्ति कागज-कलम-पेंसिल से हो जाती है। इसी तरह क्या अन्य बाधाएँ भी दूर नहीं हो सकतीं थीं ?

प्रत्यक्ष रूप से पन्त जी से कोई सहयोग न मिलने पर भी मैं उनकी काव्य-साधना का श्रद्धालु ही बना रहा। प्रेम, भक्ति और कला की पूजा निःस्वार्थ भाव से ही की जा सकती है। सच तो यह कि जहाँ श्रद्धा होती है, वहाँ बिना प्रतिदान के ही आत्मोपलब्धि हो जाती है।......

कालाकाँकर में मैं पन्त जी से मिलता था, लखनऊ में पन्त जी निराला जी से मिलते थे। डॉ० रामविलास शर्मा ने अपनी 'निराला' नामक पुस्तक में उन दिनों का चित्र इन शब्दों में खींचा है—"मैली तहमत, लम्बे रूखे बाल, कुर्ता गले में बँधा हुआ, फटी चप्पल या नंगे पैर, इस वेश में अमीनाबाद की सारी स्थायी जनता उन्हें पहचानती थी। उनके साथ अपनी स्वच्छ वेश-भूषा में कभी पन्त जी चलते थे तो वह दृश्य देखने योग्य होता था। ऐसा 'कन्ट्रास्ट' अन्यत्र दुर्लभ था।"

'गुञ्जन' और 'ज्योत्स्ना' के बाद जब पन्त जी फिर कुछ दिनों के लिए अलमोड़ा चले गये, तब मैं दैनिक 'भारत' (सन्' ३५) में काम करता था। पन्त जी उस समय अपनी सुरुचि और युग की आर्थिक विकृति के सङ्घर्ष से सन्तप्त थे।* उन्हीं दिनों निराला जी ने 'मेरे गीत और कला' शीर्षक लेख 'माधुरी' में लिखा, उसमें उन्होंने पन्त की काव्य-कला को अशक्त और अपनी काव्यकला

* अलमोड़ा से लौटने पर पन्त जी 'युगान्त' ले आये।

को सशक्त सिद्ध किया था। मैंने 'भारत' में निराला जी के एकाङ्गी दृष्टिकोण का प्रतिवाद किया, फलतः पन्त जी और निराला जी का काव्यविवाद 'भारत' के कई अङ्कों तक चलता रहा। निष्कर्ष यह निकला कि निराला जी के काव्य में जिस कला की सुदृढ़ अस्थि है, पन्त की कविता में उसी की कोमल त्वचा।

...बनारस से घर जाते समय निराला जी मेरे प्रति जितने ही मृदु हो गये थे, बाद में फिर उतने ही परुष हो गये। एक-आध बार उन्होंने मेरा ऐसा अपमान किया कि उस अपमान से मुर्दा भी मर्म्माहत हो सकता था। निराला जी के इस अनिश्चित (कोमल-कठोर) स्वभाव का परिचय उनके इस 'बादल-राग' में मिलता है—

कभी चपल गति, अस्थिर मति,
जल - कलकल तरल प्रवाह,

... ...

कभी दुख-दाह,

... ...

कभी क्रीड़ारत साथ प्रभञ्जन-
बने नयन-अञ्जन!

आज निराला जी की जैसी मानसिक स्थिति है वह हिन्दी-संसार के लिए चिन्ता की बात हो गई है। निराला जी की वर्त्तमान मनःस्थिति का कारण क्या है? वह केवल सार्वजनिक (आर्थिक और सामाजिक) ही है अथवा व्यक्तिगत भी? सार्वजनिक अभिशाप तो सम्पूर्ण विश्वमण्डल पर छाया हुआ है, उससे सभी तो विचलित

नहीं हो जाते। फिर निराला जी का व्यक्तित्व इतना दुर्बल नहीं है कि तूफानों और आँधियों से अपना आपा खो बैठे। उनकी वर्त्तमान मनःस्थिति का कारण विषम मात्रिक मुक्तछन्द की तरह उनके जीवन की गति-विधि में भी खोजना होगा।

निराला जी के जीवन में एक उद्दाम वेग था, किन्तु गति का नियन्त्रण नहीं था। उनके 'बादल-राग' की ये पंक्तियाँ देखिये—

देख-देख नाचता हृदय
बहने को महा विकल-बेकल,
इस मरोर से—इसी शोर से—
सघन घोर गुरु गहन रोर से
मुझे-गगन का दिखा सघन वह छोर!
राग अमर! अम्बर में भर निज रोर!

आज निराला जी का जैसा स्वगत-स्वभाव हो गया है उसका परिचय भी इसी 'बादल राग' से मिल जाता है—

धँसता दल दल
हँसता है नद खल खल
बहता, कहता कुलकुल कलकल।

निराला जी के व्यक्तित्व की तुलना कवि काजी नजरुल इसलाम से की जाती है। 'वीणा' के सम्पादन-काल (सन् १६४५) में मैंने नजरुल के सम्बन्ध में लिखा था—"इस प्रकार के कवियों का उद्वेग बहिर्मुख होता है, अतएव उनके जीवन और साहित्य की परिणति भी वैसी ही होती है।......

एकमात्र गति या बहाव पर ही निर्भर रहने के कारण, उसका अनिवार्य्य परिणाम ऐसा ही दुर्घट होता है।......

जीवन को केन्द्रस्थ रखने के लिए अन्तर्मुखी वृत्ति चाहिये, वही गति के लिए यति है। यति जो मनोवेगों को सन्तुलित कर जीवन को सम पर रखती है, विषम नहीं होने देती। काव्य के लिए ही नहीं, जीवन के लिए भी गति के साथ यति तो चाहिये ही।"

निराला जी में एक ऐसी महत्त्वाकांक्षा थी जो आत्मविकास की अपेक्षा बाह्य प्रतिस्पर्द्धा में विशृङ्खल हो गई। 'वन-बेला' शीर्षक कविता में उनकी महत्त्वाकांक्षा का असन्तोष देखा जा सकता है—

फिर लगा सोचने यथासूत्र—'मैं भी होता
यदि राजपुत्र—

....

इतना भी नहीं लक्षपति का भी यदि कुमार
होता मैं,..............................

हिन्दी-सम्मेलन भी न कभी पीछे को पग
रखता कि अटल साहित्य कहीं यह हो डगमग'

'वन-बेला' की तरह ही यदि निराला जी अपने ही स्वाभाविक अन्तःप्रस्फुटन में विकसित-प्रफुल्लित होते रहते तो उन्हें दूसरों के कृत्रिम उत्कर्ष से निराश नहीं होती। जिन तात्कालिक सांसारिक सफलताओं का उन्होंने उल्लेख किया है, यदि वे सफलताएँ उन्हें भी मिल जातीं तो उनसे उनका क्या गौरव बढ़ जाता ? आज के अनेक ख्यातनाम महानुभाव जब कालान्तर में पतझड़ के पत्ते की तरह झड़ जायँगे, उनकी याद भी नहीं रहेगी, तब भी निराला जी का काव्य-विकास अपने वृन्त मूल में संस्मरणीय-संरक्षणीय बना रहेगा।

शारीरिक और मानसिक दृष्टि से निराला जी में प्रबल पौरुष,

है, किन्तु आर्थिक सतह पर उनका पौरुष परास्त हो गया। 'सरोज' स्मृति' में उन्होंने लिखा है—

जाना तो अर्थागमोपाय
पर रहा सदा सङ्कुचित-काय
लख कर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ-समर।

प्रत्येक साधक के सामने 'आर्थिक पथ' ऐसा ही अमर्य्यादित होकर आता है। साहित्य के साधकों को भी वे आर्थिक सुविधाएँ मिलनी चाहिये जो किसी भी जीवित राष्ट्र के नागरिकों के लिए अनिवार्य्य हैं। आर्थिक दृष्टि से साहित्यकारों, राजमन्त्रियों और जनता के बीच का वैषम्य दूर होना चाहिये।—(निकट भविष्य में निश्चय दूर हो जायगा)।

क्या आर्थिक समस्या हल हो जाने से ही जीवन की आन्तरिक साधना (आत्मसाधना) भी सुलभ हो जायगी ? जहाँ दारिद्र्य है, वहाँ भी आत्मसाधना है; जहाँ अर्थप्राचुर्य्य है, वहाँ भी निश्चेतना है। आर्थिक अभाव-भराव से परे मनुष्य में एक ऐसी धृति (अन्तःसंज्ञा) होती है जो चेतना का संग्रहण, सन्तुलन, नियमन, संयमन, व्यवस्थापन करती रहती है। इसी धृति को समाज में गृहिणी कहते हैं।

श्री बुद्धदेव वसु लिखते हैं—"रवीन्द्रनाथ बिहारीलाल* के सम्बन्ध में जो कह गये हैं वही नजरुल के लिए भी कहा जा सकता है कि उनमें प्रतिभा थी, किन्तु प्रतिभा का गृहिणीत्व नहीं था।"—क्या यही बात निराला जी के लिए भी कही जा सकती है ?

निराला जी हमारे साहित्य की एक जबरदस्त शक्ति हैं। आज

---

* बंगाल के एक वैष्णव कवि, जिनके गीतों से रवीन्द्रनाथ को प्रारम्भिक काव्यप्रेरणा मिली थी।

इस शक्ति को लकवा लग गया है। उन्हें विपन्न देख कर लोग-बाग अपनी निर्जीव संवेदना का प्रदर्शन कर सस्ती वाहवाही लूट लेना चाहते हैं। जो स्वयं दयनीय हैं, वे निराला जी के नाम पर महनीय बन जाना चाहते हैं।

सन्' ४४ या '४५ में महादेवी जी की ओर से पत्र-पत्रिकाओं में दो विज्ञप्तियाँ प्रकाशित हुई थीं—एक निराला जी की चिन्तनीय स्थिति के सम्बन्ध में, दूसरी 'साहित्यकार संसद्' की स्थापना के सम्बन्ध में। पहली विज्ञप्ति से लोगों को अपनी ही दायित्वहीनता और विफल महत्त्वाकांक्षाओं को व्यक्त करने के लिए निराला जी के नाम की ओट मिल गई। खूब टिप्पणियाँ लिखी गईं! मुझे इस रवैये में सचाई नहीं मिली। 'वीणा' में मैंने दूसरी ही विज्ञप्ति (साहित्यकार संसद् की विज्ञप्ति) प्रकाशित की।

निराला जी के प्रति सक्रिय संवेदना यही हो सकती है कि उनके उपयुक्त कोई ऐसा कार्य्यक्षेत्र प्रस्तुत किया जाय जिसमें उनका मन लगे और सबका कल्याण हो। निराला जी को पूजा* की प्रतिमा

---

* 'निराला अभिनन्दन-ग्रन्थ' में श्री अमृतलाल नागर लिखते हैं—"एक समय में निराला जी ऐसी पूजा पाने के लिए किसी हद तक लालायित रहा करते थे। तब समाज से उन्हें अधिकतर विरोध ही मिला और अब जब कि समाज उनकी इतनी पूजा कर रहा है, वे उससे अलिप्त हो ऐसी मानसिक अवस्था में रहने लगे हैं जिसमें उनका जीवन 'चिरकालिक क्रन्दन' बन गया है।"

अपनी एक कविता में निराला जी मानों अपनी आज की पूजा-प्रतिष्ठा को ही लक्ष्य कर कहते हैं—

क्या होगी इतनी उज्ज्वलता
इतना वन्दन - अभिनन्दन ?
जीवन चिरकालिक क्रन्दन।

की तरह अपने ही में अवरुद्ध और सीमित बना देने से न तो उनकी मानसिक स्थिति में परिवर्त्तन हो सकता है और न उनके मनन, चिन्तन और चेतना को विस्तृत क्षेत्र मिल सकता है। वे विक्षिप्त नहीं, कुण्ठित हैं।

वे साहित्यिक नवयुवक भी निराला जी के शुभचिन्तक नहीं हैं जिन्हें साधना से अधिक सनसनी पसन्द है, जिनका उत्साह हवा में गुब्बारे की तरह उड़ता रहता है, जो क्षणिक कीर्ति के लिए आत्मप्रवञ्चना और लोकप्रवञ्चना करते रहते हैं।

निराला जी के व्यक्तित्त्व का किसी ने सदुपयोग नहीं किया। न ब्रिटिश काल के साम्प्रदायिक राजकर्म्मचारियों ने, न जनवादी पार्टी के कार्य्यकर्त्ताओं ने, न साहित्यकारों के लिए न्याय की आवाज उठानेवालों ने। सबने उनके व्यक्तित्व को अपने-अपने सङ्कीर्ण स्वार्थों का साधन बनाया।......

कवि, तुम कहाँ सोये हो ! जागो कवि, जागो !!
तुम्हें तुम्हारी ही पंक्तियों का स्मरण दिला रहा हूँ—

जागो फिर एक बार !
प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें
अरुण-पङ्ख तरुण-किरण
खड़ी खोलती है द्वार
जागो फिर एक बार !

... ...

पशु नहीं, वीर तुम,
समर – शूर, क्रूर नहीं,
काल – चक्र में हो दबे
आज तुम राजकुँवर !—समर-सरताज !

... ...

ब्रह्म हो तुम
पद-रज भर भी है नहीं पूरा यह विश्व-भार
जागो फिर एक बार !

[२]

पन्त

छायावाद के राजकुमार पन्त जी थे। वे रवीन्द्रनाथ के उत्तराधिकारी थे। 'गुञ्जन' में जिस विहग को उन्होंने सम्बोधित किया है—'दूर वन के ओ राजकुमार !'—वह विहगकुमार स्वयं पन्त जी ही थे। हिन्दी के काव्य-साहित्य में एक गीत-खग के रूप में उनका अवतरण हुआ था।

काव्य में ही नहीं, जीवन में भी उनका वैसा ही सङ्गीतमय व्यक्तित्व था। प्रकृति की कोमलतम अभिव्यक्ति की तरह ही विधाता ने हमारे साहित्य में भी एक मृदुल, मञ्जुल व्यक्तित्व दे दिया था, उसी का नाम कवि पन्त है।—मध्यकाल के बाद हिन्दी-कविता का सर्वोपरि सौभाग्य !

निराला जी ने 'पन्त और पल्लव' शीर्षक लेख में लिखा था—पन्त की कविता में 'स्त्रीत्व के चिह्न' (फीमेल प्रेसेज) हैं। निःसन्देह पन्त की आत्मा बालिका है। रवीन्द्रनाथ ने प्रतिभा के जिस गृहिणीत्व का उल्लेख किया है, उसी का मूल संस्कार पन्त की कविता और कला में है। तदनुरूप उनके छन्दों में भी एक शोभा-सौकुमार्य्य और संयमन है।

'वीणा' में पन्त जी ने कहा है—

यह तो तुतली बोली में है
एक बालिका का उपहार

इसी बालिका के कण्ठ का प्रस्फुटन 'पल्लव' में हुआ। इसके बाद उसका स्वाभाविक विकास रुक गया। तारुण्य में ही उस पर परिस्थितियों का ऐसा गुरुतर भार पड़ गया कि उसकी कोमलता पौरुष की ओर चली गई। यों तो 'पल्लव' के 'परिवर्त्तन' से ही पन्त की कविता में भी परिवर्त्तन शुरू हो गया था, किन्तु अनुभूति में भिन्नता होते हुए भी अभिव्यक्ति (कला) में 'पल्लव' का लय-सामञ्जस्य बना हुआ था। 'गुञ्जन' में अनुभूति भी बदल गई, अभिव्यक्ति भी बदल गई, पौरुष स्पष्ट होने लगा, फिर भी 'वीणा' और 'पल्लव'-काल की उल्लासिनी प्रकृति अथवा मधुर रागात्मिका वृत्ति मूलतः बनी हुई थी। वही कोमला वृत्ति 'ज्योत्स्ना' में अपने तारुण्य की सम्पूर्ण अनुभूति और अभिव्यक्ति को स्वप्निल बना कर कहाँ से कहाँ चली गई!—'युगान्त' से अपने 'गद्य-पथ' तक। उसकी भाषा, उसके छन्द, उसके अनुभाव—सब कहाँ चले गये! अब कवि को मुक्त छन्द भी अच्छा लगने लगा, वह गीत-गद्य और पद्य लिखने लगा, जीवन के सम-विषम-सुषम धरातल पर सामाजिक और सांस्कृतिक सामञ्जस्य ढूँढ़ने लगा।

'वीणा' और 'पल्लव' के कलाप्राण कवि पन्त को जिसने कभी देखा है, वह उन्हें सन्' ५३ में भी क्या उसी रूप में देख सकेगा? इस बीच वय के साथ-साथ कवि बीसवीं सदी की आधी शताब्दी पार कर चुका है। आर्थिक, शारीरिक और मानसिक कष्ट से पीड़ित हो चुका है। उसकी पीड़ा का प्रभाव उसके भाव, भाषा और छन्द पर पड़ा है। 'ग्राम्या' में कवि ने मानों अपनी ही कला को लक्ष्य कर कहा है—

तुम भावप्रवण हो।
जीवन प्रिय हो, सहनशील सहृदय हो, कोमल मन हो।

* * * *

तुम्हें तुम्हारा मधुर शील कर रहा अजान पराजित,
वृद्ध हो रही हो तुम प्रतिदिन, नहीं हो रही विकसित।

क्या सचमुच अपनी कला के साथ-साथ कवि भी वृद्ध हो चला है? बख्शी जी ने अपने किसी लेख में 'पल्लव'-काल के कवि पन्त को स्मरण करते हुए लिखा था—विश्वास नहीं होता कि वह सुन्दर मधुर कवि वृद्ध हो गया होगा!......

सन् '४४ में पन्त जी दिल्ली में टायफायड से अत्यन्त रुग्ण हो गये थे। जब उठ खड़े हुए तब उदयशङ्कर की 'कल्पना' में काम करने के लिए फिर मद्रास चले गये। उन्हीं दिनों का शब्द-चित्र खींचते हुए व्रजनन्दन जी ने लिखा था—

'मैंने हिन्दी के शेली को देखा। आठ महीने की टायफायड की आग में तप कर मानों वह और दीप्त हो गया था। हाँ, उसके वे रेशम-से केश रूखे थे, उनमें चमक न थी, कुछ उड़ भी गये थे; चेहरे पर शुष्कता थी, जो खून की कमी बतला रही थी। मगर आँखों की चमक और गहराई फिर भी आकर्षित करती थी। मानों वे चमकीली पुतलियाँ कह रही थीं—देखो, मुझमें से होकर कवि के अन्तर में झाँको; वहाँ अब भी सौन्दर्य्य और कल्पना, माधुर्य्य और भावुकता, संस्कृति और प्रगति का अथाह सागर लहरा रहा है।"......

काव्य में पन्त जी जिस तारुण्य को सौन्दर्य्य, प्रेम और आह्लाद से सजीव कर रहे थे, उसे समाज में जीवन्त देखने के लिए लालायित

थे। अपने कुम्हला-मुरझा जानेवाले अस्तित्व से उन्हें निराशा नहीं हुई। 'ग्राम्या' में 'कला के प्रति' उन्होंने कहा था—

जीर्ण परिस्थितियाँ ये तुममें
आज हो रहीं बिम्बित,
सीमित होती जाती हो तुम,
अपने ही में अवसित।

परिस्थितियों ने पार्थिव दृष्टि से पन्त को पीड़ित कर दिया, किन्तु उनकी चेतना कुण्ठित नहीं हो सकी।

छायावाद की व्यक्तिगत सीमा से निकल कर कवि अपने ही मूल-रूप (भव्य और भाव्य रूप) का विस्तार चाहने लगा। उसमें 'एकोऽहम् बहुस्याम' की चेतना आ गई। उसने अनुभव किया कि स्वयं तो वह मुरझा चला है, किन्तु नई पीढ़ी में उसका चिरन्तन विकास सम्भव है। 'युगवाणी' में मानों 'पल्लव'-काल के अपने ही सौन्दर्य्य को प्यार कर कवि ने कहा है—

झर गये हाय, तुम कान्त कुसुम!
सब रूप रंग दल गये बिखर,
रह सके न चारु चिरन्तन तुम,
जीवन की मधु-स्मिति गई बिसर!
चुपके से झर, तुमने फल को
निज सौंप दिया जीवन, यौवन,
क्षण भर जो पलकों पर झलका
वह मधु का स्वप्न न रहा स्मरण।

'उत्तरा' में कवि ने अपनी ही सौन्दर्य्य-चेतना (सांस्कृतिक-

सुषमा) को नई पीढ़ी में अङ्कुरित देखने के लिए कहा है—'नव बीजों से हो न विनाश।'

नई पीढ़ी को पन्त जी जिस रूप में देखना चाहते हैं, उसी को प्रत्यक्ष करने के लिए उनका मनोवाञ्छित 'लोकायतन' (सांस्कृतिक अधिष्ठान अथवा 'संस्कृति-पीठ') है। वह 'नव बीजों' का आलबाल है। अपनी कविता में पन्त जी जिस तरह शब्दों को संयोजित करते हैं, यदि उसी 'लोकायतन' में अपने मनोवाञ्छित व्यक्तित्वों को भी संयुक्त कर सकें, तो वह उनका जीवित महाकाव्य बन सकता है।

पन्त जी आज भी स्वप्नदर्शी हैं। 'लोकायतन' उनकी 'ज्योत्स्ना' का मनोलोक है। वयोधिक हो जाने पर भी पन्त जी अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति में चिर तरुण हैं। 'पल्लव' और 'गुञ्जन' के परवर्ती काल में भी उन्होंने काव्य-कला के जो नये टेकनिक दिये हैं, उन्हें आज का कोई युवक प्रगतिशील कवि नहीं दे सका है। अनुभूति की दृष्टि से पन्त की काव्यात्मा अतलव्यापिनी हो गई है। वह बाहर के 'अन्ध प्रवेगों' में उद्वेलित नहीं है। अब वह 'वारि-बेलि' की तरह 'अमूल' नहीं है, अभिव्यक्ति-प्रधान नहीं है। जैसा कि सूरदास ने कहा है—'सींचत नीर नैन के सजनी! मूल पताल गई'—मूल की गहराई के कारण ही कवि का तारुण्य स्थायित्व पा गया है। सच तो यह कि सूर, तुलसी और रवीन्द्रनाथ की तरह पन्त-जैसे कवि भी कभी वृद्ध नहीं होते।......

जब से पन्त की कविता के सम्पर्क में आया, तब से मानसिक सतह पर मैं उनसे घनिष्ठ होता गया। डॉ० रामविलास शर्मा ने मेरे 'युग और साहित्य' की आलोचना करते हुए लिखा था कि शान्तिप्रिय द्विवेदी का साहित्यिक क्रम-विकास पन्त की रचनाओं के

साथ-साथ हुआ है। यह कथन इस रूप में ठीक है कि पन्त की कृतियों से मैं अभिव्यक्ति ग्रहण करता रहा।

स्वर्गीया बहिन के सान्निध्य में मेरे भावात्मक संस्कार बहुत कलात्मक हैं। अपने भीतर एक विशेष सौन्दर्यानुभूति रखते हुए भी अभिव्यक्ति की दृष्टि से मैं मूक था, अवाक् था। बँगला और अंग्रेजी से अनभिज्ञ था। अपने बचपन की खड़ीबोली में मुझे अभिव्यक्ति का मनोनुकूल माध्यम नहीं मिल रहा था। फूलों, पत्तों; लहरों, तितलियों, सितारों के सौन्दर्य पर मुग्ध हो उठनेवाला शिशु, जैसे वाणी के अभाव में वर्णमाला ('अ' से अमरूद और 'आ' से आम) का ही अभ्यास करता है, वैसे ही छायावाद के पहले मैं खड़ीबोली का आभास कर रहा था। भीतर की सुप्त काव्यप्रेरणा जब पहली बार मुक्त छन्द से जग पड़ी, तब अचानक पन्त की कविताओं से मुझे अपनी अनुभूति के अनुरूप ही अभिव्यक्ति का अनुकूल मार्ग मिल गया। किन्तु साहित्य में मैं पन्त का अनुकरण ही नहीं करता रहा, मेरी परिस्थितियाँ भी मुझे उस युग-चेतना की ओर अग्रसर करती जा रही थीं, जिस ओर पन्त जी अपनी अनुभूतियों से उन्मुख होते जा रहे थे। बहिन के बलिदान से व्याकुल होकर मैंने 'युग और साहित्य' लिखा। सामाजिक विषमता का भुक्तभोगी होते हुए भी मेरे और पन्त जी के ऐतिहासिक दृष्टिकोण में ओर-छोर का अन्तर था। उन दिनों वे 'युगवाणी' में प्रगतिवाद से बहुत प्रभावित थे। 'युग और साहित्य' का एक लेख सुन कर उन्होंने ऊब कर कहा था—आप गान्धीवाद को क्यों नहीं पसन्द कर लेते? मैंने कहा—उसे ही तो चाहता हूँ।

सन्' ४६ में मद्रास में पन्त जी जब 'स्वर्णकिरण' लिख रहे थे, तब काशी में मैं 'पथचिह्न' लिख रहा था। हम लोगों

को एक-दूसरे की रचना का कोई आभास नहीं था, किन्तु दोनों की अन्तश्चेतना अभिन्न हो गई। 'पथचिह्न' में बहिन की वैष्णवी साधना के संस्मरण और युग-विश्लेषण के द्वारा जिस रचनात्मक निष्कर्ष पर मैं पहुँचा था, उसी निष्कर्ष पर अरविन्द-दर्शन से प्रेरित होकर पन्त जी भी पहुँच चुके थे।

मेरी और पन्त जी की अन्तर्वीणा के तार एक ही सांस्कृतिक सुर में बँधे-सधे हैं। किन्तु परिस्थितियों के भिन्न आघातों से दोनों की स्वरलिपियों में प्रकारान्तर है। मैं गावों की मिट्टी की उपज हूँ, पन्त जी आंग्ल नागरिकता की शिष्टमूर्त्ति हैं। बचपन में मुझे गाँवों की नैसर्गिक शोभा मिली, पन्त जी को पर्वत-प्रदेश की हिम-धवल अरण्यसुषमा। इसीलिए सौन्दर्य्य और संस्कृति की सतह पर मानसिक ऐक्य होते हुए भी ग्रामीणता और नागरिकता की तरह मुझमें और पन्त जी में सामाजिक वैभिन्य है, वैयक्तिक पार्थक्य है। काव्य में पन्त का आरम्भ (प्राकृतिक सौन्दर्य्य) मेरा भाव-विकास बना, समाज में मेरा आरम्भ (ग्राम्य जीवन) पन्त का लोकप्रवास बना; जैसे 'ग्राम्या' में।

मानसिक सतह पर मैं पन्त से घनिष्ठ होता गया, किन्तु सामाजिक सतह पर हम दोनों आज भी एक-दूसरे से बहुत दूर हैं। इस दुराव के प्रति असन्तोष प्रकट करने पर पन्त जी ने कहा था— 'हम लोगों में साहित्यिक सम्बन्ध है।' मुझे यह उत्तर सन्तोष-जनक नहीं जान पड़ता। साहित्यिक सम्बन्ध तो बहुतों से है। मनुष्य सामाजिक प्राणी भी है। युग की विषमता में जहाँ मानसिक एकता पाता है वहाँ सामाजिक सहकारिता भी चाहता है। साहित्य स्वयं साध्य नहीं, अन्य अनेक साधनों और माध्यमों की तरह वह भी एक साधन या माध्यम है। जो साहित्य नहीं जानता, वह किस माध्यम से मनुष्य के समीप पहुँचेगा?

महादेवी जी ने अपने 'अतीत के चलचित्र' के एक संस्मरण में लिखा है—

"पश्चिम में रङ्गों का उत्सव देखते-देखते जैसे ही मुँह फेरा कि नौकर सामने आ खड़ा हुआ। पता चला, अपना नाम न बतानेवाले एक वृद्ध सज्जन मुझसे मिलने की प्रतीक्षा में बहुत देर से बाहर खड़े हैं। उनसे सबेरे आने के लिए कहना अरण्य-रोदन ही हो गया है।

मेरी कविता की पहली पंक्ति ही लिखी गई थी, अतः मन खिसिया-सा आया। मेरे काम से अधिक महत्त्वपूर्ण कौन-सा काम हो सकता है, जिसके लिए असमय में उपस्थित होकर उन्होंने मेरी कविता को प्राणप्रतिष्ठा से पहले ही खण्डित मूर्ति के समान बना दिया! 'मैं कवि हूँ' में जब मेरे मन का सम्पूर्ण अभिमान पुञ्जभूत होने लगा, तब यदि विवेक का 'पर मनुष्य नहीं' में छिपा व्यंग बहुत गहरा न चुभ जाता, तो कदाचित् मैं न उठती।"

सामाजिक समवेदना इसी तरह साहित्यकार से उसके अहम् का उत्सर्ग चाहती है।—कौन यह उत्सर्ग कर रहा है!

मनुष्य को मनुष्य से मिलानेवाला माध्यम उसका द्रवणशील अन्तःकरण है। 'ग्राम्या' में पन्त जी ने कहा है—

ज्ञान वृथा है, तर्क वृथा,
संस्कृतियाँ व्यर्थ पुरातन,
प्रथम जीव है मानव में,
पीछे है सामाजिक जन।

यही जीव-बोध समाज और साहित्य का प्राणाधार है। इसके बिना न समाज बन सकता है, न साहित्य। भविष्य में जीव, जीवन

समाज, साहित्य, ये सब एक दूसरे के पर्य्याय बन जायँगे, तब तक क्या सहृदयता के प्रतिनिधि केवल वाचिक कलाकार ही बने रहेंगे ? सक्रिय सहयोग नहीं देंगे ? मैंने एक बार पन्त जी से कहा था कि जहाँ परस्पर सहयोग होता है वहाँ अपने आप एक सोवियट बन जाता है।

पन्त जी स्वयं विधाता की एक सुन्दर संरक्षणीय सृष्टि थे। प्रकृति की गोद और गृह-सम्पदा ने उन्हें सुकुमार बना दिया था। अग-जग से अनजान शिशु अपने जिस चेतनाप्राण व्यक्तित्व में मनोहर लगता है, वह व्यक्तित्व पन्त को अनायास मिल गया था। अनुकूल वातावरण में एक कवि-हृदय का कैसा दिव्य निर्म्माण हो सकता है, इसका दृष्टान्त रवीन्द्र और पन्त के जीवन में देखा जा सकता है।

रवीन्द्रनाथ तो अपनी सुख-सुविधाओं के कारण जीवन-पर्य्यन्त राजपुत्र बने रहे, किन्तु कालान्तर में पन्त को सांसारिक विषमता के धरातल पर चल-विचल हो जाना पड़ा। 'युगान्त' के चित्र-रेखाकार ने लिखा है—"अंग्रेजी कवियों के सौन्दर्य्य-बोध तथा पर्वत-प्रदेशों के प्राकृतिक सौन्दर्य्य से अपने कल्पना-जगत् का निर्म्माण कर लेने पर अपने देश की बाह्य विषयण दशा से अपने अन्तर्जगत् का कहीं साम्य न पाने के कारण पन्त जी का व्यथित चित्त १६२३ से दर्शन-शास्त्र की ओर झुका।"

'परिवर्त्तन' में पन्त की समस्या आध्यात्मिक थी—(कवि को तब तक जीवन के ठोस अभावों का अनुभव नहीं हुआ था); इसके बाद जब उनकी गृह-सम्पदा छिन्न-भिन्न हो गई, सन्' २६ में मानसिक अशान्ति से उनकी स्वस्थता भङ्ग हो गई, तब स्थूल सतह पर कवि की समस्या आर्थिक और सूक्ष्म सतह (सुरुचि की सतह) पर

सांस्कृतिक हो गई। जीवन के उतार-चढ़ाव में भी पन्त का बाल्य-संस्कार (भाव-संस्कार) बना रहा।

सन्' ३० से पन्त जी कालाकाँकर में रहने लगे। उनकी आत्मा अनुभूतिप्रवण थी, किन्तु उनका जीवन उच्चवर्ग का था। 'ग्राम्या' में उन्होंने ग्रामीणों के सुख-दुख को चित्रित किया, किन्तु उनकी समस्याओं का निदान उन्हीं की स्वाभाविक जल-वायु और मिट्टी के भीतर से नहीं दिया।

छायावाद-युग में जिस तरह पन्त की काव्यकला पर अन्यदेशीय प्रभाव पड़ा, उसी तरह उनके जीवन के भौतिक दर्शन पर भी प्रगति-वाद का प्रभाव पड़ा। इसीलिए उन्होंने ग्रामीणों को बौद्धिक सहानुभूति दी, 'पिटी पोएट्री' से असन्तोष प्रकट किया, व्यक्तिगत वेदना को सामूहिक स्वर दिया। क्या सब कुछ सार्वजनिक प्रयत्न के ही अधीन है, व्यक्ति का दायित्व कुछ भी नहीं है? विदेशों में जहाँ कल-कारखानों की जिन्दगी है, घरेलू जीवन (आत्मीयतापूर्ण हार्दिक जीवन) का अभाव है, वहाँ व्यक्ति और समाज में विभेद उत्पन्न हो गया है। भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि यहाँ व्यक्ति का दायित्व ही सामाजिक दायित्व बन गया है। आज जो काम राजनीतिक विधान नहीं कर पाता है, वही काम भारत का धार्म्मिक अथवा गार्हस्थिक निर्म्माण करता आया है।......

पन्त जी उस अभिजात वर्ग के सुसंस्कृत कवि हैं जो अपने शील-सङ्कोच के कारण निजी दुख को भीतर ही भीतर पी लेता है, किसी से कुछ कहता नहीं। ठीक है—

रहिमन निज मन की व्यथा मन ही राखो गोय।
सुनि अठिलैहैं लोग सब बाँटि न लैहैं कोय॥

जहाँ समाज का ढाँचा आर्थिक विषमता से निष्प्राण है, वहाँ ऐसी ही चित्तवृत्ति हो जाती है।

अपने गोपन स्वभाव के कारण पन्त जी अपनी कला में ही अन्तर्व्यथा को व्यक्त करते आये हैं। एक दिन कालाकाँकर में (अपने काटेज 'नक्षत्र' में) वे वॉयलिन बजा रहे थे। पास ही बैठा मैं लेख लिख रहा था। उनके वॉयलिन का स्वर इतना मधुर, कोमल, करुण, प्रेमल था कि मेरा जी विह्वल रुलाई से भर आया।

उन दिनों पन्त जी के भीतर बहुत अन्तर्द्वन्द्व था। एक ओर वे जीवन की अभावजन्य अनुभूतियों से उन्मथित हो रहे थे, दूसरी ओर अपनी स्वभावजन्य कलाकारिता से अन्तरात्मा को प्रतिष्ठित कर रहे थे। निराला जी के इस तुकान्त मुक्त छन्द को उन्होंने अपनी ही कविताओं की ट्यून में बड़े ही सङ्गीत-मधुर कण्ठ से सुनाया था—

> भर देते हो
> बार-बार प्रिय, करुणा की किरणों से
> क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो
> मेरे अन्तर में आते हो देव! निरन्तर
> कर जाते हो व्यथा-भार लघु
> बार-बार कर-कञ्ज बढ़ा कर

आगे चल कर लोकदर्शन और आत्मदर्शन ही पन्त का अन्तर्बाह्य काव्य-विषय बन गया। दुहरा व्यक्तित्व और दुहरा सङ्घर्ष तथा सामञ्जस्य और समन्वय पन्त का अद्यतन प्रयत्न है। किन्तु उनका प्रयत्न अभी सफल नहीं हो सका है। इसका कारण यह कि पन्त के आर्थिक दृष्टिकोण और सांस्कृतिक दृष्टिकोण में

एकरूपता नहीं है। आर्थिक दृष्टिकोण यन्त्र-युग में है, सांस्कृतिक दृष्टिकोण आध्यात्मिक युग में। इसी लिए वे जीवन में दुहरे हो गये हैं। गान्धीवाद के उद्योग और मनोयोग में यह द्वित्त्व नहीं है, क्योंकि उसमें साधन और साध्य एक ही हैं।

पन्त जी अपनी आर्थिक और मानसिक स्थिति के अनुसार साहित्य में बदलते रहे हैं। सुसम्पन्नता में वे छायावाद के कवि थे, विपन्नता में प्रगतिवाद के कवि; अब अध्यात्मवाद के मनीषी हैं।—(इधर उनकी कविता में एकरसता आती जा रही है।)

सम्प्रति अपनी आध्यात्मिकता में पन्त जी अरविन्द से प्रभावित हैं। अरविन्द में गान्धी का कर्म्मयोग नहीं था।

छायावाद-युग में पन्त जी 'जनभीरु' थे, अब वे समझौते की नीति लेकर चल रहे हैं। इसी लिए जिसे नहीं चाहते, उसे चाहना पड़ता है; जिसे चाहते हैं, उसे अपना नहीं सकते।

'गुञ्जन' के बाद पन्त जी अपनी पुस्तकें व्यक्तियों को समर्पित करने लगे हैं। 'गुञ्जन' में उन्होंने कहा है—

तुम मेरे मन के मानव,
मेरे गानों के गाने,
मेरे मानस के स्पन्दन,
प्राणों के चिर पहचाने!

'ज्योत्स्ना' और 'पल्लविनी' को छोड़ कर शेष पुस्तकों के समर्पण में समाहृत क्या ये ही व्यक्ति पन्त जी के 'मन के मानव' और 'प्राणों के चिर पहचाने' हैं?......

पन्त जी में भी स्वभावजन्य मनुजोचित विवशताएँ हैं; किन्तु उनमें कटुता नहीं है, कुरुचि नहीं है। उनकी कविताओं

की तरह ही सुरुचि से दुर्बलताओं में भी एक कलात्मक सौन्दर्य्य आ गया है।

पन्त जी हँसमुख और परिहास-कुशल हैं। वे बहुत सुन्दर और निर्दोष परिहास करते हैं। एक दिन निराला जी जब पन्त जी से मिलकर विदा होने लगे, तो मैंने कहा—भूल-चूक क्षमा कीजियेगा।

निरालाजी ने प्रसन्न होकर कहा—

जौं बालक कछु अनुचित करहीं।
गुरु पितु मातु मोद अनुसरहीं॥

मैं न तो गुरु हूँ, न पिता, न माता।

पन्त जी ने हँस कर कहा—निराला जी, आप माता हैं। *

पन्त जी का स्वभाव अत्यन्त तरल है। बाहर के तनिक-से भी व्याघात से वह जल की तरह हिल-डुल जाता है; जहाँ आत्मीयता पाता है, वहाँ क्षुब्ध भी हो जाता है। किन्तु विचलित होकर भी उनका सुचिन्तित, व्यवस्थित, सन्तुलित, परिमार्जित व्यक्तित्व अपने आत्मनिर्म्माण में अक्षुण्ण ही रहता है।

प्रगतिवाद से अध्यात्मवाद की ओर जाकर भी पन्त जी का अन्तर्द्वन्द्व समाप्त नहीं हो गया है। उनमें शान्ति और सरलता

---

* निराला जी माता की तरह ही स्नेह-वत्सल और क्षमाशील हैं। 'सरोज-स्मृति' में उन्होंने अपने को मातृपद पर उपस्थित किया है।

९

की उत्कट आकांक्षा है। मेरी शुभकामना है कि पन्त जी को आत्मशान्ति मिले। वे जीवन की उस सरलता को पा जायँ, जो उनकी 'वीणा' में थी।

[२]

महादेवी

पन्त की कविताओं में मैं अपनापन पाता था, किन्तु महादेवी जी की कविताएँ अति फैन्सी जान पड़ती थीं। यथा—'रजनी ओढ़े जाती थी झिलमिल तारों की जाली।' अथवा—

'इन हीरक-से तारों को कर चूर बनाया प्याला।
पीड़ा का सार मिला कर प्राणों का आसव ढाला॥'

छायावाद की रचनाओं का मनोयोगपूर्वक अध्ययन करने पर मुझे महादेवी जी की कविताओं में भी कला का आकर्षण मिलने लगा। उनकी अन्तर्वेदना और अतृप्ति की फिलासफी मर्म्मस्पर्श करने लगी। 'हमारे साहित्य निर्म्माता' में मैंने लिखा है—"हम लोग जिस प्रकार अपने विषाक्त दुख को भी एक मधुर गान का रूप दे देते हैं, उसी प्रकार महादेवी ने भी अपने हृदय की व्यथाओं को कहीं कहीं भाषा की रङ्गीन साड़ी पहना दी है, मानों पावस की सजल नीलिमा को इन्द्रधनुष से शोभित कर दिया है। यदि वे ऐसा न करतीं, तो उनकी व्यथाओं में सौंदर्य्य नहीं रह जाता, उनका गाना केवल क्रन्दन-मात्र रह जाता।"

'कमलेश' ने पूछा था—"क्या महादेवी जी की रचनाएँ आपके मन को विश्राम नहीं देतीं?"

मैंने कहा था—"महादेवी जी की रचनाओं को मैं अपनी

स्वर्गीया बहिन की आँखों से देखता हूँ। उनकी रचनाओं में बहिन की आत्मा ही अपनी अभिव्यञ्जना पा जाती है। बहिन के प्रति पूर्ण श्रद्धालु होकर भी मेरी कुछ अपनी समस्याएँ हैं, इसलिए मैं पन्त जी में अपना मनोजगत् पाता हूँ। वैसे मुझमें मेरा, बहिन से भिन्न कुछ भी नहीं है; फिर भी ज्योत्स्ना से निःसृत ओस-बिन्दु का एक विरल विश्व भी तो बन जाता है।"......

महादेवी जी से मेरा परिचय शायद सन्' २६ में हुआ। इसके बाद सन्' ३४ से जब मैं इलाहाबाद रहने लगा, तब उनका सान्निध्य प्राप्त कर सका।......

महादेवी जी का काव्य और उनका सामाजिक जीवन क्या दो भिन्न धरातलों पर है? काव्य में कलित कल्पना है, सामाजिक जीवन में वास्तविकता। अपनी एक कविता में उन्होंने जिज्ञासा की है—

कह दे मा! क्या देखूँ!—
देखूँ हिम हीरक हँसते
हिलते नीले कमलों पर,
या मुरझाई पलकों से
झरते आँसू-कण देखूँ!

... ...

तेरे असीम आँगन की
देखूँ जगमग दीवाली,
या इस निर्जन कोने के
बुझते दीपक को देखूँ!

... ...

तुझमें अम्लान हँसी है
इसमें अजस्र आँसू-जल,
तेरा वैभव देखूँ या
जीवन का क्रन्दन देखूँ !

महादेवी जी ने दोनों को ही देखा है—उनके काव्य में 'जगमग दीवाली' है,* उनके संस्मरणों में 'बुझते दीपक' हैं। ये दोनों जीवन-दर्शन परस्पर विरोधी न होकर धरा-शिखर की तरह सम्बद्ध हैं।

'रश्मि' की भूमिका ('अपनी बात') में महादेवी जी ने लिखा है—"संसार जिसे दुख और अभाव के नाम से जानता है, वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है, किन्तु उस पर पार्थिव दुख की छाया नहीं पड़ सकी। कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है।"

क्या उनकी मानवीय समवेदना उनके सुख की ही प्रतिक्रिया है? उनके काव्य में भी तो एक वेदना है—वैष्णवों और रहस्यवादियों के अतृप्त प्रेम की वेदना। यह वेदना भी सामाजिक धरातल से ही उत्पन्न हुई है, पार्थिव तल से अश्रुमुखी नीरजा की तरह।

आज महादेवी जी की जो समवेदना निराला जी के प्रति है,

---

*'प्राणों के दीप जला कर
करती रहती दीवाली।'

वही समवेदना उन दिनों मेरे प्रति भी थी। ※ वस्तुतः वे दुखी जनों के माध्यम से अपने आप को आश्वस्त करती थीं। वे सबके दुख को अपना लेना चाहती थीं, किन्तु उनका दुख कौन अपना सकता था! उसके लिए तो मेरी बहिन-जैसी ही कोई समदुःखिनी सङ्गिनी चाहिये थी।...

सन' ३५ में मेरा परिचय गङ्गाप्रसाद पाण्डेय से हुआ, मेरे द्वारा उनका परिचय महादेवी जी से हुआ। उस समय भी मैं आर्थिक दृष्टि से सर्वथा निराधार था। पाण्डेय जी मुझे उपकृत कर महादेवी जी का विश्वास प्राप्त करना चाहते थे। वे अपने प्रयत्न में सफल हुए। किन्तु वे महादेवी जी के सत्सङ्ग का सदुपयोग नहीं कर सके, उन्हें अपनी समुचित श्रद्धा नहीं दे सके।

कभी-कभी मन में यह प्रश्न उठता है कि असीम की गायिका महादेवी जी अब क्या अपने आप में सीमित होती जा रही है! उनसे भी कहने को जी चाहता है—'तुम्हें तुम्हारा मधुर शील कर रहा अज्ञात पराजित।'

महादेवी जी ने जब तक सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश नहीं किया था, तब तक सभी को उनकी साहित्यिक और सामाजिक निकटता सुलभ थी, यहाँ तक कि फालतू लोग भी उनका बहुत समय ले लेते थे। अब महादेवी जी रिजर्व हो गई हैं। व्यावहारिक दृष्टि से यह उचित ही है। किन्तु इसका परिणाम यह भी हो सकता है कि

※अपनी समवेदना को मूर्त रूप देने के लिए उन्होंने 'साहित्यकार संसद्' की स्थापना की है।

पन्त जी का 'लोकायतन' शान्तिनिकेतन को और महादेवी जी की संसद् सेवाग्राम को अपने रचनात्मक कार्यों से नवजीवन दे सके, तभी इन संस्थाओं की सार्थकता है।

जैसे राजनीतिज्ञों के यहाँ अपात्रों की पहुँच हो जाती है, सत्पात्रों को द्वार से ही लौट जाना पड़ता है, वैसे ही साहित्य के साधना-मन्दिर में भी पात्रापात्र का विवेक नहीं रह जायगा। रवीन्द्रनाथ ने कहा है—द्वार ऐसा बन्द मत करो कि सत्य राह से ही लौट जाय।

सहृदय और परदुःखकातर होते हुए भी महादेवी जी अपने चारों ओर के वातावरण में 'किसी प्रशान्त साधक के किसी असावधान श्वास के साथ इच्छाओं की चञ्चल भीड़' से अवरुद्ध हो गई हैं। उन्होंने अपनी एक कविता में कहा है—'वन्दिनी बन कर हुई मैं बन्धनों की स्वामिनी सी।' क्या आज भी वे 'बन्धनों की स्वामिनी' हैं?

महिला-विद्यापीठ, राज्य-परिषद्, साहित्यकार संसद्, स्वाध्याय, मनन-चिन्तन-लेखन, अस्वास्थ्य, दिनचर्य्या, पारिवारिक और सामाजिक समस्याएँ!—अपने जीवन की इतनी सङ्कुलता में भी यदि महादेवी जी किसी से मिल लेती हैं तो यह उनकी कृपा ही है! जब मिलती हैं, तो उनके मुक्त हास्य, मुक्त कण्ठ, मुक्त हृदय की आत्मीयता से ओतप्रोत होकर अभ्यागत आगे भी उनसे ऐसी ही आशा करता है। किन्तु यह सब समय सम्भव नहीं है।

महादेवी जी की सुविधा-असुविधा का ध्यान रखना आवश्यक है। वे भी मानव-प्राणी हैं। न मिल सकें तो बुरा मानने की बात नहीं, किन्तु द्वार से लौटते हुए प्रवासी को विदा में भी सद्भाव तो मिलना ही चाहिये। राजनीतिक व्यक्तियों के यहाँ जो सङ्कीर्ण वातावरण है, उससे साहित्यिक क्षितिज मुक्त रहना चाहिये। राजनीतिज्ञों की कुरूपता साहित्यिकों की संस्कृति से ही स्पष्ट हो सकती है। उन्हीं को देख कर जनता में आत्मचेतना जगेगी, वह अनुचित महत्ता को सिर झुकाना छोड़ देगी।

जहाँ व्यक्तिवाद का प्राधान्य है, जहाँ मनुष्य अपने सामाजिक दायित्त्व का अनुभव नहीं करता, वहाँ जीवन के सभी क्षेत्रों में एक बिलगाव और दुराव दिखाई पड़ता है—चाहे साहित्य हो, समाज हो, राजनीति हो। मनुष्य केवल अपने स्थापित स्वार्थों से ही सम्बद्ध रह गया है, शेष जगत् से विच्छिन्न हो गया है। यह उसकी मानवता का अङ्ग-भङ्ग है; उसमें सर्वाङ्गीणता नहीं, सामाजिक विकलाङ्गिता है।

मुझे श्रद्धेय श्रीप्रकाश जी की याद आती है। किसी भी पद-मर्य्यादा में वे एक आदर्श नागरिक पहले हैं, उसके बाद एक व्यक्ति। वे सबके पत्रों का उत्तर देते हैं, छोटे-बड़े सबसे ललक कर मिलते हैं। सबको समान अवसर देते हैं। सबके सुख-दुख को अपने ही सुख-दुख-जैसा समझते हैं। उनमें समवेदनशीलता है, स्वाभाविक सहानुभूति है। एक चींटी की प्राणरक्षा के लिए भी वे उतने ही विकल हो उठते हैं, जितने किसी हाथी की रक्षा के लिए।*—(वहाँ लघुता-महत्ता कुछ है ही नहीं)। उनकी अनुपस्थिति में जिससे भेंट नहीं हो पाती, यदि वह अपना नाम-धाम-काम लिख कर छोड़ जाय, तो उसे भी उसी आत्मीयता से उत्तर मिल सकता है जिस आत्मीयता से मिलने पर। उनकी इस शालीनता, शिष्टता, संस्कारिता की छाप उनके सेवकों पर भी पड़ी है। श्रीप्रकाश जी की अनुपस्थिति में भी उनके

---

* महादेवी जी अपने सम्बन्ध में लिखती हैं—"गर्मियों में जहाँ-तहाँ फेंकी हुई आम की गुठली जब वर्षा में उग आती है, तब उसके पास मुझसे अधिक सतर्क माली दूसरा नहीं रहता। घर के किसी कोने में चिड़िया जब घोंसला बना लेती है, तब उसे मुझसे अधिक सजग प्रहरी दूसरा नहीं मिल सकता।"

सेवक प्रसन्न होकर अभ्यागतों से ऐसे मिलते हैं जैसे वे उन्हीं के अतिथि हों। पान-सुपारी-लायची से स्वागत-सत्कार कर सबको सस्नेह विदा करते हैं।

महादेवी जी में भी स्नेह है, समवेदना है, सहानुभूति है; किन्तु उनके व्यक्तित्व की किरणें घन-पटल को पार कर सबको अपनी ज्योत्स्ना से पुलकित नहीं कर देतीं। वातावरण में एक ऐसी सतर्कता मिलती है, जो प्रायः उनकी अस्वस्थता की तरह ही अशोभन जान पड़ती है—(महादेवी जी साहित्य के सौभाग्य से दीर्घजीवी हों !)

जान-बूझ कर अवज्ञा कर देने से एक चींटी भी तिलमिला उठती है, किन्तु अनजाने दब कर भी वह उबर जाती है, जीवन पा जाती है। मनुष्य की आन्तरिक प्रवृत्तियों का ही प्रभाव उसके व्यवहार पर पड़ता है।

'स्मृति की रेखाएँ' में महादेवी जी ने लिखा है—"मेरे परिचितों और साहित्यिक बन्धुओं से भी भक्तिन विशेष परिचित है, पर उनके प्रति भक्तिन के सम्मान की मात्रा, मेरे प्रति उनके सम्मान की मात्रा पर निर्भर है और सद्भाव उनके प्रति मेरे सद्भाव से निश्चित होता है।"—भक्तिन ही नहीं, देवी जी के अन्य सेवक-सेविकाओं के भी रूढ़ व्यवहार को यदि उनके व्यक्तित्व का भाष्य समझ लें, तो यह उनकी साधना के साथ अन्याय होगा।

राशनिंग और कण्ट्रोल के पहले देवी जी प्रत्येक अभ्यागत को (स्वयं ही सामने बैठ कर) सुरुचिपूर्ण भरपूर जलपान कराती थीं। अब अनेक असमर्थताओं के कारण यदि वे सबसे मिल नहीं सकतीं, सबका स्वागत-सत्कार नहीं कर सकतीं, तो उनके सेवक-सेविकाओं से

ही प्रसन्न व्यवहार और पान-इलायची से सत्कार की आशा की जा सकती है। यह केवल शिष्टाचार नहीं है, सद्भावना का सूत्र है, जो व्यक्ति की अनुपस्थिति में भी अविच्छिन्न रहता है। पान से जब ओठ रँग जाते हैं और इलायची से जब मस्तिष्क महँक उठता है, तब कुछ देर के लिए काव्य का नन्दन-कानन खिल उठता है। स्मृति सुखद हो जाती है।

सम्प्रति निराधार साहित्यिकों के लिए 'साहित्यकार संसद्' के रूप में आर्थिक नेतृत्व लेकर देवी जी अन्नपूर्णा के आसन पर शोभायमान हैं।......

सन्' ३९ में मैं इलाहाबाद से बनारस चला गया। उसके बाद का जीवन अभिशापों की लम्बी कथा है, जिसकी पूर्णाहुति अभी नहीं हो सकी है।

शेषकथा फिर कभी।

❀ ❀ ❀ ❀

अब भी मैं इलाहाबाद जाता हूँ, किन्तु वहाँ भी सामाजिक उल्लास नहीं मिलता। वहाँ निराला जी भी हैं, पन्त जी भी हैं, महादेवी जी भी हैं। समीप होकर भी पन्त जी अपनी असमर्थता और महादेवी जी अपनी बहुव्यस्तता के कारण बहुत दूर हैं। मेरी गति-मति-शक्ति निराला जी ही हो सकते हैं, वे ही इस चिरदुर्बल प्राणी* को

---

* अपनी पशु-प्रवृत्तियों (अभावजन्य परिस्थितियों) में प्राकृत प्राणी होते हुए भी मेरी सबसे बड़ी दुर्बलता मेरा आदर्शवादी होना है।

लेकर निर्दय समाज में चल सकते हैं, किन्तु वे भी मुझ-जैसों के दुर्भाग्य से ही 'जीवन्मुक्त' हैं।

छायावाद तो सगुण का ही आधुनिक रूपान्तर है, किन्तु छायावाद के उस काव्य-तीर्थ (प्रयाग) में जाकर भी मैं तो निर्गुण का शून्य ही पाता हूँ। शायद यह युग ही ऐसा हो गया है!

काशी,
२८।७।५३

'साहित्यावलोकन'

'साहित्यावलोकन':—श्री विनयमोहन शर्म्मा की समीक्षात्मक पुस्तक है।

उन्होंने अपनी प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में 'दृष्टिक्षेप' शीर्षक भूमिका में लिखा है—"साहित्यावलोकन मेरे समय-समय पर लिखित प्रकाशित अप्रकाशित निबन्धों का पुस्तक रूप है। इसे तीन खण्डों में विभाजित किया जा सकता है। पहला खण्ड कविता से सम्बन्ध रखता है, जिसका प्रारम्भ 'हिन्दी-कविता के वाद' से होता है और अन्त 'महादेवी की कविता' से। दूसरा खण्ड गद्य के आलोचना-रूप को प्रस्तुत करता है। यह 'हिन्दी में समालोचना का विकास' से प्रारम्भ होकर 'हिन्दी में सन्त-साहित्य-विवेचन' में समाप्त होता है। तीसरा खण्ड महाराष्ट्रियों की हिन्दी-सेवा पर प्रकाश डालता है, जिसका पहला लेख है 'नामदेव और हिन्दी-कविता' और अन्तिम 'मराठी नाट्यकला और रङ्गभूमि।' यद्यपि प्रत्येक खण्ड के निबन्धों में परस्पर विषय-क्रम की रक्षा का प्रयत्न किया गया है तो भी पुस्तक की आलोचनाएँ क्षेपक सी लग सकती हैं।"—किन्तु क्षेपक-सी नहीं लगतीं, ये विषय-क्रम के साथ सुचारु रूप में संयुक्त हो गयी हैं। हाँ, विचारों से कहीं-कहीं मतभेद हो सकता है।

यथार्थवाद या आदर्शवाद

'आधुनिक हिन्दी-कविता के वाद' शीर्षक लेख में लेखक ने लिखा है—"भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पूर्व हिन्दी-कविता रीति-कालीन परम्पराओं से बँधी हुई थी।···उस कविता का जीवन से

लगाव नहीं रह गया था। भारतेन्दु के साहित्य क्षेत्र में अवतीर्ण होते ही कविता अपने युग को उच्छ्वसित करने लगी। हिन्दी-कविता में प्रथम बार 'यथार्थवाद' ने प्रवेश किया। जिन परिस्थितियों ने हरिश्चन्द्र-युग को अपने चारों ओर देखने को विवश किया वे सचमुच विस्फोटक थीं।"...

'यथार्थवाद' से लेखक का अभिप्राय उन्हीं विस्फोटक परिस्थितियों के चित्रण से जान पड़ता है। लेखक ने फुटनोट में लिखा है—

"प्रकृत वस्तु के हूबहू चित्रण का नाम यथार्थवाद कहलाता है। इसकी उत्पत्ति अरस्तू की कला की इस व्याख्या से हुई है कि वह केवल अनुकृति (imitation) है। मनुष्य जो कुछ अपने चारों ओर देखता है उसका चित्रण यथार्थवाद के अन्तर्गत आता है। सृष्टि के बाह्य रूप को ही नहीं, हृदय की विभिन्न अनुभूतियों को भी हम साहित्य में उतारते हैं और साहित्य का यह रूप भी यथार्थवाद ही है।"—लेखक के इस मन्तव्य से यथार्थवाद का यथार्थ रूप समझने में भ्रम उत्पन्न हो सकता है। हृदय की विभिन्न अनुभूतियों का अवतरण भी यदि यथार्थवाद ही है तो फिर भावात्मक अनुभूति और वस्तुगत अनुभूति में क्या अन्तर रह जायगा? वस्तुतः यथार्थवाद तो एक प्रवृत्ति विशेष है, लेखक ने भी फुटनोट के इस वाक्य में यही कहा है—"यथार्थवाद युग-प्रवृत्तियों के वर्णन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।"—इस दृष्टि से देखने पर भारतेन्दु-युग में यथार्थवाद नहीं है। उस युग की प्रवृत्ति भी आदर्शवादी ही है। लेखक कहता है—"आदर्शवादी साहित्य जीवन की अनुकृति से सन्तुष्ट नहीं होता। वह जीवन को दिशा-विशेष की ओर उन्मुख करना चाहता है। वह 'जीवन क्या है?' की अपेक्षा 'जीवन क्या होना चाहिये?' की ओर निर्देश करता

है ?"—इस दृष्टि से लेखक ने द्विवेदी-युग को आदर्शवादी कहा है। किन्तु भारतेन्दु और द्विवेदी-युग, दोनों ही एक समान पुरागामी आदर्शवादी हैं। भारतेन्दु-युग की चेतना ही द्विवेदी-युग में स्पष्ट हो गयी है। केवल भविष्य का स्वप्न ही आदर्शवाद नहीं है, बल्कि अतीत का अनुराग भी आदर्शवाद है। यही प्रवृत्ति छायावाद-युग तक चली आयी है। 'पल्लव' के 'परिवर्तन' में पन्त जी ने भी कहा है -

'कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल ?'

भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग "पाश्चात्य संस्कारों की आँधी से" देश को बचा कर अतीत का ही आदर्श स्थापित करना चाहते थे—"स्त्री-शिक्षा, बाल-विवाह-विरोध, विधवा-विवाह, छुआछूत-निवारण" में यथार्थवाद नहीं, सुधार और जागरण की प्रभाती है। भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग और गान्धी-रवीन्द्र-युग तक सुधार और पुनर्जागरण का ही अखण्ड प्रयास चला आ रहा है। इसके बाद प्रगतिवाद का युग आता है, जिसकी प्रवृत्ति यथार्थवाद की ओर है।

केवल 'अनुकृति' अथवा वस्तुस्थिति का चित्रण ही यथार्थवाद नहीं है। देखना चाहिये कि उसका लक्ष्य क्या है ? वह जीवन को किस 'दिशा-विशेष' की ओर 'उन्मुख' करता है ? भारतेन्दु-युग में अपने युग की वस्तुस्थिति और शृङ्गारिक युग की अनुकृति है। उनके साहित्य में वस्तुस्थिति और अनुकृति दोनों की आकृति-प्रकृति मध्यकालीन संस्कृति की ओर उन्मुख है।—यही बात द्विवेदी-युग और छायावाद-युग के लिए भी कही जा सकती है।

छायावाद और देश-काल

छायावाद-काव्य के 'रोमान्टिसिज्म' के लिए लेखक ने आचार्य

शुक्ल जी के व्यवहृत शब्द 'स्वच्छन्दतावाद' का प्रयोग किया है। यह शब्द भ्रमोत्पादक है, इससे रोमान्टिसिज्म का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। शुक्ल जी ने तो इसे छायावाद का परिहास करने के लिए प्रयोग किया था, जैसे अन्य लोगों ने उसे 'सजनीवाद' कहा था। रोमान्टिसिज्म के साथ लेखक की सहानुभूति है, उसके स्वरूप को उसने ठीक हृदयङ्गम किया है। लेखक लिखता है—"आंग्ल साहित्य में रोमान्टिसिज्म का पुनरुत्थान वर्ड्स्वर्थ और कालरिज के 'लीरिकल बैलेड्स' के प्रकाशन से होता है। इन कवियों को फ्रांस की जनक्रान्ति, रूसो के साथ-साथ कैन्ट और हीगल के दार्शनिक विचारों तथा 'पुनर्जागरण' और 'सुधार' के आन्दोलनों ने प्रभावित किया था। उनके काव्य के दो मुख्य सूत्र थे—

(१) प्रकृति का आध्यात्मीकरण और (२) समाज-जीवन में मानवता का विकास।

'प्रकृति के आध्यात्मीकरण' से ही यह सिद्ध होता है कि रोमान्टिसिज्म केवल 'स्वच्छन्दतावाद' नहीं है। हिन्दी में उसके लिए प्रचलित 'छायावाद' शब्द ही उपयुक्त जान पड़ता है, फिर भी और स्पष्ट करने के लिए इसे हम भावना का चैतन्यवाद कह सकते हैं। जो सजीव अनुभूति प्रकृति में चेतना का आरोप करती है वही समाज में 'मानवता का विकास' भी करती है, वही रूढ़ि-रीतियों से समाज को ऊपर उठाती है। अपने इसी चैतन्य रूप में रोमान्टिसिज्म यथार्थवाद और प्रगतिवाद से भिन्न हो जाता है।

लेखक कहता है—"हिन्दी में रोमान्टिसिज्म के प्रचलन के लिए देश की राजकीय, धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति सहायक हुई। विदेशी शासकों की दमनकारी नीति ने कवियों को बन्धनों के प्रति घृणा से भर दिया। वे राजनीतिक क्षेत्र में स्वाधीन नहीं

हो सकते थे। अतः उन्होंने अपनी स्वच्छन्दता को साहित्य के क्षेत्र में व्यक्त किया।" लेखक के इस कथन से हम सहमत नहीं हैं। आंग्ल साहित्य में रोमान्टिसिज्म पर चाहे 'फ्रान्स की जनक्रान्ति' का प्रभाव पड़ा हो, किन्तु हमारे छायावाद पर देश-काल का कोई प्रभाव नहीं है। पन्त के 'पल्लव' और महादेवी के गीतों पर राजनीतिक प्रभाव कहाँ है! जिन कवियों की कविताओं पर देश-काल का प्रभाव पड़ा वे राष्ट्रीय कवि के रूप में ही प्रसिद्ध हुए, छायावाद के कवि के रूप में नहीं। वस्तुतः हिन्दी में रोमान्टिसिज्म या छायावाद जो देश-काल से निर्लिप्त भावना का शाश्वत साहित्य था, इसी लिए प्रगतिवादियों ने उसे पलायनवाद कहा। आगे चल कर छायावाद के कवियों ने भी देश-काल को अपनी सहृदयता की स्वाभाविक सहानुभूति दी, निराला जी हिन्दुत्व की ओर चले गये, पन्त जी प्रगतिवाद की ओर। काव्य की यह सामयिक प्रगति एक परिणाम है, छायावाद का सहायक या प्रेरक नहीं।

द्विवेदी-युग के भावजन्य-अकाल (इतिवृत्त-काल) में अंग्रेजी रोमान्टिसिज्म का आगमन वैसा ही है जैसा आज के अभावजन्य अकाल में विदेशों से अन्न का आयात। हमारे प्रतिभाशाली कवियों ने अपनी पाचन-शक्ति से उसे पचा कर हिन्दी को छायावाद दे दिया।

छायावाद पर प्रथम विश्वयुद्ध का भी कोई प्रभाव नहीं है। "छायावादी कवियों का आलोचनात्मक दृष्टिकोण' शीर्षक लेख में लेखक ने फुटनोट में दिनकर जी का एक उद्धरण दिया है। दिनकर जी प्रथम विश्वयुद्ध को लक्ष्य कर कहते हैं—"आकाश में आच्छन्न होने वाले बादल जिस क्रान्ति से उमड़े थे, छायावाद भी ठीक उसी क्रान्ति का पुतला था। जिस क्रान्तिकारी भावना के कारण बाह्य जीवन में राजनीतिक दुर्व्यवस्थाओं की अनुभूतियाँ तीव्र होती जा

रही थीं, वही भावना साहित्य में छायावाद का रूप धारण कर खड़ी हुई थी और मनुष्य की मनोदशा, विचार एवं सोचने की प्रणाली में विप्लव की सृष्टि कर रही थी।"—यह कथन राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना के लिए सत्य हो सकता है, छायावाद के लिए नहीं। छायावाद तो हिन्दी में प्रथम विश्वयुद्ध के पहिले ही आ गया था, इसके लिए प्रसाद जी का 'चित्राधार' और गुप्त जी की 'झङ्कार' देखी जा सकती है। बँगला में रविबाबू का रोमान्टिसिज्म भी प्रथम युद्ध के पूर्व का है। 'साहित्यावलोकन' में लेखक ने ठीक लिखा है—"हिन्दी-छायावाद में, स्वच्छन्दतावाद का जो रूप दिखलाई दिया वह प्रथम महायुद्ध के पश्चात् के कवि 'हार्डी यीट्स या डी ला मेरे' आदि का स्वच्छन्दतावाद नहीं है। उसमें तो रोमान्टिक युद्ध के वर्ड्स्वर्थ, शेली, कीट्स कालरिज आदि की आत्मा झाँक रही है; सीधे या बँगला के माध्यम से।"

'साहित्यावलोकन' के लेखक की यह विशेषता है कि उसने साहित्य की मनोधारा को ठीक से समझा-समझाया है, किन्तु उसका इतिहास-निरूपण विरोधाभास बन गया है। कहीं तो वह कहता है—"हिन्दी में रोमान्टिसिज्म के प्रचलन के लिए देश की राजकीय, धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति सहायक हुई;" और कहीं कहता है—"उसमें तो रोमान्टिक युग के कवियों की आत्मा झाँक रही है।"

रहस्यवाद

लेखक ने छायावाद और रहस्यवाद का अन्तर सुस्पष्ट कर दिया है। उसका यह कहना ठीक है कि छायावाद में सगुण अभिव्यक्ति है, रहस्यवाद में निर्गुण अभिव्यक्ति। अपनी पुस्तकों में यही बात मैंने भी कही है। साथ ही मध्ययुगीन सगुण और छायावाद के

सगुण में आलम्बन-भेद से क्या पार्थक्य आ गया है, जीवन का क्या दृष्टिकोण बन गया है, इसे भी मैंने स्पष्ट कर दिया है।

प्रयोगवाद

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के सम्बन्ध में भी लेखक के साथ मेरे विचारों का सादृश्य है। प्रगतिवाद का स्वरूप तो अब निश्चित हो चुका है, किन्तु प्रयोगवाद पर अभी कोई निश्चित विचार नहीं हो सका है। उसके सम्बन्ध में लेखक का यह कहना ठीक जान पड़ता है—"प्रयोगवादी किसी वाद की परम्परा से न तो बँधता है और न भागता है।...यह अभिव्यञ्जना की नूतन रूप-रेखा पर विश्वास करता है। नये भाव, नयी उपमा, नई कल्पना उसके प्राण हैं।... प्रयोगवादियों को अधिक अपरिचित उपमानों की खोज नहीं करनी चाहिये, नहीं तो उनकी रचनाएँ भी कबीर की उलटबासियाँ या सूर के दृष्टिकूट बन जायँगी।"

मेरा प्रयास

'साहित्यावलोकन' में एक लेख 'हिन्दी में समालोचना का विकास' शीर्षक है। इसमें सत्रहवीं सदी से लेकर अब तक के समीक्षा-साहित्य पर दृष्टिपात किया गया है। आधुनिक काल के आलोचकों के प्रसङ्ग में लेखक ने मेरे सम्बन्ध में लिखा है—"छायावाद-युगकी नीहारिकामयी प्रवृत्तिप्रदर्शितकरनेवालेआलोचकों में शान्तिप्रिय द्विवेदी का स्मरण आता है।......छायावाद-युग में प्रभाववादी आलोचना का जो दौर-दौरा था उसकी पूरी छाप इस समालोचक पर अङ्कित है।"—इस कथन से मेरे आलोचनात्मक प्रयास का सम्यक् परिचय नहीं मिलता। प्रारम्भ में मेरी आलोचना चाहे प्रभाववादी रही हो किन्तु वही मेरी सीमा नहीं है। प्रभाववादी

समालोचना में भी मैंने साहित्य के इतिहास और काव्य के मनोवैज्ञानिक क्रम-विकास का आभास दिया है, जैसे 'सञ्चारिणी' में। उसके बाद शास्त्रीय और जीवन के रचनात्मक दृष्टिकोण से भी विचार किया है, जैसे 'युग और साहित्य', 'सामयिकी', और 'ज्योति-विहग' में। शास्त्रीय दृष्टि से तो साहित्य की समालोचना चली आ रही थी, किन्तु रीति-युग और छायावाद-युग दोनों की समालोचना जीवन के आर्थिक पक्ष से निरपेक्ष थी। इसीलिए प्रगतिवाद ने साहित्य की पुरानी मान्यताओं पर प्रहार किया। छायावाद-युग के आलोचकों में मैंने ही भावना को जीवन का ठोस आधार दिया। मैंने दिखलाया कि छायावाद का आर्थिक आधार वही है जो गान्धीवाद का। छायावाद में जिस प्रकृति का भावयोग है, गान्धीवाद में उसी प्रकृति का कर्म्मयोग।

हिन्दी के आधुनिक समालोचना-साहित्य में मैंने कुछ नये शब्दों की उद्भावना की है। लेखक ने जिस 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' को प्रेमचन्द्र जी का शब्द कहा है वह मेरा भी शब्द है। पन्त जी की 'युगवाणी' के लिए मैंने इस शब्द की उद्भावना की और सबसे पहिले 'युग और साहित्य' में इसका प्रयोग किया। इसी के जोड़ पर 'यथार्थोन्मुख आदर्शवाद' का भी प्रयोग किया है, जिसका परिचय प्रसाद जी के 'कङ्काल' में मिलता है।

काशी,
१२।१।५२

'हिन्दी-साहित्य'

पण्डित हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने अपनी 'हिन्दी-साहित्य' नामक पुस्तक में 'उसका उद्भव और विकास' दिखलाया है। यह एक प्रकार से हिन्दी-साहित्य का इतिहास है, जिसे उद्दिष्ट रूप रेखा में अंकित किया गया है। यद्यपि नामकरण में नवीनता है तथापि विषय चिर-परिचित है। एक निश्चित क्रम-प्रवाह में निर्दिष्ट होकर साहित्य का इतिहास अपना स्पष्ट अभिप्राय पा गया है—'उद्भव और विकास'; यही तो उद्गम और स्रोत की तरह उसकी प्रक्रिया है, इसी के अन्तर्गत इतिहास की अन्य अवान्तर क्रियाएँ हैं।

पुस्तक के आरम्भ में एक चिट पर यह सूचना छपी है—'इसके संक्षेप और कुञ्जी का अधिकार प्रकाशक तथा लेखक का स्वाधिकृत है, अतः कोई भी व्यक्ति इसकी कुञ्जी अथवा संक्षिप्त संस्करण प्रकाशित करने का प्रयत्न न करे।'—इस सूचना से ज्ञात होता है कि यह पुस्तक परीक्षोपयोगी है और विशेषरूप से विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है।

एक ऐसे युग में जब कि सब-कुछ खरीद-फरोख्त बन गया है, विद्यार्थियों के मस्तिष्क के साथ भी सौदा होता आ रहा है। पहले रीडरों का रोजगार होता था, अब साहित्य के इतिहास का रोजगार हो रहा है। जहाँ शिक्षा केवल एक आर्थिक तैयारी है वहाँ ऐसे ही व्यावसायिक प्रयासों का प्रसार होता है। इससे सत्साहित्य का क्षेत्र अवरुद्ध हो जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक को सर्वथा व्यावसायिक नहीं कहा जा सकता, इसका साहित्यिक महत्त्व भी है। पण्डित हजारीप्रसाद जी ने

प्राचीन साहित्य का प्रकाण्ड अध्ययन किया है, विशेषतः सन्त-साहित्य का। फिर भी वे साहित्य के मर्म्मज्ञ की अपेक्षा उसके पुरातत्त्वान्वेषी अधिक जान पड़ते हैं। उसकी साहित्यिक स्थापनाओं से मतभेद हो सकता है, क्योंकि तर्क सदैव तथ्यपूर्ण नहीं होता। किन्तु हमें आशा करनी चाहिये कि हजारीप्रसाद जी में विचारों की वह उदारता है जो त्रुटियों के प्रति जागरूक रहती है और सत्परामर्शों का स्वागत करती है।

प्रस्तुत पुस्तक पढ़कर इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि इससे शोध-विशारदों (रिसर्च स्कॉलरों) को तो कुछ सामग्री मिल सकती है, किन्तु साहित्य के कलानुरागी छात्रों का हृदयोन्मेष नहीं हो सकता। इसमें स्थापत्य है, लालित्य नहीं। अजन्ता और एलोरा की गुफाओं को पुरातत्त्व की दृष्टि से भी देखा जा सकता है और कलाकारिता की दृष्टि से भी। दोनों दृष्टिकोण अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं, किन्तु साहित्य के रसात्मक अध्ययन के लिए दूसरा दृष्टिकोण (कला का दृष्टिकोण) अधिक आवश्यक है।

वस्तु-सत्य और भाव-सत्य में जो अन्तर है वही हजारीप्रसाद जी के दृष्टिकोण और मेरे दृष्टिकोण में अन्तर है। एक बार काशी के नवयुवक साहित्यिकों की ओर से आयोजित गोष्ठी में 'शुक्लोत्तर-साहित्य-समीक्षा' पर विचार-विनिमय हुआ था। पण्डित हजारी-प्रसाद जी द्विवेदी सभापति थे। मैंने कहा था—आचार्य्य शुक्ल जी साहित्य का रसात्मक विवेचन चाहते थे, किन्तु उनकी समीक्षाओं में सरसता का प्रायः अभाव है। कहीं-कहीं उनका आलङ्कारिक विश्लेषण ऐसा शुष्क और गरिष्ठ हो गया है कि काव्य का सहज आनन्द उपलब्ध नहीं होता, जैसे उनके द्वारा लिखित इतिहास में बिहारी का विवेचन, हृदय-स्पर्श के लिए समीक्षक के भीतर गीली मिट्टी (रसार्द्रता) होनी चाहिये।......

हजारीप्रसाद जी ने यद्यपि अपनी इस पुस्तक में शुक्ल जी के कुछ शब्दों को ग्रहण कर लिया है, तथापि वे उनके अनुयायी नहीं हैं। विचारों में यत्र-तत्र शुक्ल जी से मतभेद रखते हुए भी उनकी समीक्षाएँ भी उन्हीं की तरह बौद्धिक स्तर पर हैं। उस गोष्ठी में द्विवेदी जी ने मेरे मन्तव्य पर कहा था—'गीली मिट्टी' से बड़ी-बड़ी इमारतें कैसे बन सकती हैं!—इस कथन से ज्ञात होता है कि उनका दृष्टिकोण नैसर्गिक नहीं, नागरिक है। सन्त-साहित्य के सम्पर्क में रहते हुए भी वे आधुनिक युग के विज्ञान से प्रभावित हैं।

जान पड़ता है कि द्विवेदी जी रवि बाबू की उस 'श्यामली' (कवि-आवास) को भूल गये जिस पर ग्राम्यमनुज गान्धी जी मुग्ध हो उठे थे। 'श्यामली' शान्तिनिकेतन की ही 'गीली मिट्टी' का स्थापत्य (कुटीर-शिल्प) है। जिस रसार्द्रता से भाव-सत्य का सृजन होता है, उसी से वस्तु-सत्य का भीं निम्मार्ण हो सकता है। साधन और साध्य का अन्योन्य सम्बन्ध है। रवि बाबू का साध्य तो तपोवन के युग का था, किन्तु साधनों में वे सर्वथा नैसर्गिक नहीं थे।* यहीं पर गान्धी और रवीन्द्र में मतभेद था।

रवि बाबू भाव-सत्य के अधिष्ठाता थे, किन्तु भाव को वस्तु-जगत् में प्रतिष्ठित नहीं कर सके। इसका कारण यह है कि वे जिस आधुनिक अर्थवाद द्वारा संरक्षित राजपुरुष थे उसका व्यतिक्रम कर ग्रामीण अर्थशास्त्र का साथ नहीं दे सके—(अन्त में असमर्थ हो जाने पर शान्ति-निकेतन का दायित्व गान्धी जी को सौंप गये)। सैद्धान्तिक रूप से वे ब्रिटिश अत्याचारों का विरोध करते थे, किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलनों से तटस्थ होकर अपनी वंशी एकान्त में ही बजाते रहे। सङ्घर्ष से दूर, अपनी स्थिति में सुरक्षित, रहने के

---

* उनका श्रीनिकेतन यन्त्र-चालित भी है।

कारण उनका भाव-सत्य अक्षुण्ण रह गया। उनके जीवन और काव्य में रोमांटिक चेतना का ह्रास नहीं हुआ, जैसा कि छायावाद के कुछ कवियों में हो गया।

हजारीप्रसाद जी वर्षों तक रवि बाबू के सान्निध्य में रहने पर भी उनकी रोमांटिक प्रतिभा नहीं पा सके।—(यह एक दैवी व्यवधान है कि सज्जनों का सदा सम-संयोग नहीं होता।) हजारीप्रसाद जी कवि नहीं, विद्वान् हैं। सामाजिक दृष्टि से वे ग्रामीण परम्परा में हैं, साहित्यिक दृष्टि से शास्त्रीय परम्परा में। इसीलिए एक ओर से भारतीय संस्कृति के सम्पर्क में हैं, दूसरी ओर एकेडेमिक विद्वत्ता के साहचर्य में। किन्तु जैसे भारतीय संस्कृति में प्रगतिशील हैं वैसे ही अपनी विद्वत्ता में भी। जितने अंश में सांस्कृतिक दृष्टि से समाज-वादी हैं उतने अंश में साहित्यिक दृष्टि से रोमांटिक। फिर भी उनके मूलसंस्कार क्लासिक हैं। रवि बाबू और क्षिति बाबू से उन्होंने छायावाद और सन्त-काव्य (भावना और भक्ति) की जो चेतना पाई उसे अपनी विद्वत्ता से बौद्धिक बना दिया। उनके काव्य-निरूपण में प्रस्थापक का वाग्वैदग्ध्य है, सारल्य और तारल्य नहीं।

उनकी भाषा में पाण्डित्य भी है और ग्राम्य प्रयोग भी। कला-कारिता के अभाव में संस्कृत शब्दों की तत्समता के साथ ठेठ शब्दों का सामञ्जस्य नहीं हो सका है। बीच-बीच में कवित्वपूर्ण वाक्य होते हुए भी उनकी भाषा प्रायः ऊबड़-खाबड़ है। वे निबन्धकार हैं, शैलीकार नहीं।

❀ ❀ ❀

'हिन्दी-साहित्य' में हजारीप्रसाद जी ने साहित्य के उद्भव और विकास को मुख्यतः ऐतिहासिक दृष्टि से देखा है। साहित्य के इतिहास को आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी देखा

जा सकता है, तभी संस्कृति, राजनीति और वैयक्तिक रीति-नीति का स्पष्टीकरण हो सकता है। द्विवेदी जी ने आधुनिक साहित्यिक को तो अनिवार्य्यतः तत्कालीन सामाजिक चेतना की आधार-पीठिका पर उपस्थित किया है, किन्तु प्राचीन साहित्य को रूढ़ कालानुक्रम से ही निर्दिष्ट किया है। इसलिए 'हिन्दी-साहित्य' अनुसन्धान-ग्रन्थ बन गया है। अनुसन्धान की ओर न तो मेरी रुचि है, न पहुँच। साहित्य के धारा-प्रवाह में कलाकार की जो अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग तरङ्गें (अनुभूति और अभिव्यक्ति, भाव और भङ्गिमा) आलोड़ित-विलोड़ित होती हैं, मैं इस लेख में उन्हीं का पर्य्यवेक्षण करना चाहता हूँ।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा है, हजारीप्रसाद जी का साहित्यिक संस्कार काव्यात्मक नहीं है, इसीलिए भावव्यञ्जकता को ग्रहण नहीं कर सके। नवीनता के लिए वे रूढ़ियों को नापसन्द करते हैं, किन्तु मर्म्मस्पर्शिता के अभाव में उनका दृष्टिकोण स्वयं रूढ़ (बाह्य) हो गया है। उदाहरण के लिए तुलसीदास जी का काव्य-प्रसङ्ग लीजिये। हजारीप्रसाद जी लिखते हैं—"यह एक विचित्र बात है कि उनके (तुलसीदास के) काव्यों में उपमानों के प्रयोग में काव्य-गत रूढ़ियों का बुरी तरह दुरुपयोग हुआ है। कञ्ज-लोचन, कञ्जमुख, कञ्जपद कञ्जद्युति[१] आदि में कञ्ज केवल परम्पराप्राप्त उपमान है, एक ही साथ सब अङ्गों के लिए जब इसका प्रयोग किया जाता है तब पाठक के चित्त में न तो वह अनुभूति उत्पन्न हो पाती है जो इस उपमान का अभिप्रेत है और न वह आसानी से सामान्य धर्मों को हृदयङ्गम कर सकता है।"

---

१ श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन हरण भव-भय दारुणम्।
नव कञ्ज-लोचन, कञ्ज-मुख, कर-कञ्ज, पद-कञ्जारुणम्॥

कञ्ज (कमल) हमारे यहाँ संस्कृति का प्रतीक है। तुलसीदास जी ने सौन्दर्य्य को सांस्कृतिक दृष्टि से देखा है। उन्हें वही शोभा प्रिय है जिसमें संस्कृति की सुषमा हो। बार-बार 'कञ्ज' शब्द का प्रयोग इसलिए किया है कि वे अङ्ग-प्रत्यङ्ग के कुसुमित सौन्दर्य्य की ओर ही नहीं, बल्कि उसके सांस्कृतिक सौष्ठव की ओर भी ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। एक ही शब्द की पुनः-पुनः आवृत्ति से सौन्दर्य्य अपना अनुप्रास (सामञ्जस्य) पा गया है, भाव अपनी टेक, भावना अपना सङ्गीत।...

रीतिकाल की कलाकारिता का उदाहरण देने के लिए द्विवेदी जी ने जिन रचनाओं को उद्धृत किया है वे कहीं-कहीं अश्लील हो गई हैं। अश्लीलता को मैं हेय नहीं मानता, उसके पृष्ठभाग में जीवन्त आधार होना चाहिये। मेरे सामने श्री प्रबोधचन्द्र सान्याल का एक उपन्यास है—'आँका-बाँका।' इसमें मीनाक्षी के उद्गार से अश्लीलता के औचित्य-अनौचित्य पर प्रकाश पड़ता है। वह कहती है—"जिस असंयम में श्री नहीं, पौरुष नहीं, जिसमें दुर्बलता ही बड़ी हो, अन्धेपन में जो अपघात कर लेते हैं, वे क्रान्ति नहीं कर सकते—ऐसा असंयम मेरी आँखों में जहर है। जो कमजोर व्यक्ति डर से मरा जाता हो, जो चोट खाकर झुक जाय, जो मानसिक यक्ष्मा के कारण पङ्गु है, उत्तरदायित्वहीन आसक्ति से निरुपाय होकर जो जल मरे, मुसीबत आने पर जो गड्ढे में जाकर छिप जाय, उसका असंयम पशुःप्रकृति से भी अधिक घृणास्पद है। तुम्हारा तरुण साहित्य कुत्ते-कुत्तियों की कामुकता की बड़ाई कर सकता है, पर मैं तरुणों से भी तरुण हूँ—मैं पङ्ख फैलाये मोर-मोरनी के मैथुन को देखना पसन्द करती हूँ। उनके पीछे रहती है नववर्षा की पृष्ठभूमि, कविता की अपरूप रसव्यञ्जना। वह शक्तिशाली, स्वस्थ, सुन्दर असंयम सारी प्रकृति के रूप में आत्मसात् हो जाता है।"

. . .

अश्लीलता ब्रजभाषा में तो है ही, थोड़ी-बहुत छायावाद में भी है, इससे अधिक प्रगतिवाद और यथार्थवाद में। ब्रजभाषा और छायावाद की अश्लीलता में प्रकृति का स्वास्थ्य है, प्रगतिवाद और यथार्थवाद में विकृत मनोविकार अथवा मानसिक यक्ष्मा। अश्लीलता को देखने के लिए तदनुकूल कला-दृष्टि चाहिये, तभी वेनिस की मूर्त्तियों और दक्षिण के मन्दिरों का नग्न सौंदर्य्य सुस्पष्ट हो सकता है। समुचित दृष्टिकोण के अभाव में अश्लीलता संक्रामक हो जाती है। द्विवेदी जी के शृङ्गारिक उद्धरण अश्लीलता की दृष्टि से नहीं, बल्कि प्रसंग की दृष्टि से अनुपयुक्त हैं। जो उदाहरण उन्होंने भाषा के लिए दिये हैं उनसे भाषा की नहीं, रस-विशेष की ही पुष्टि होती है। भाषा के लिए वे और अच्छा चुनाव कर सकते थे।

❀ ❀ ❀ ❀

हिन्दी-साहित्य के काल-विभाजन में कुछ अपनी विशेषताएँ रखते हुए भी हजारीप्रसाद जी ने शुक्ल जी के इतिहास का अनुसरण किया है। शुक्ल जी के अनुयायी पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अपनी 'बिहारी' नामक पुस्तक में शृङ्गार-काल की रचनाओं को रीतिबद्ध, रीतिमुक्त और रीतिसिद्ध खण्डों में विभाजित किया है। 'हिन्दी-साहित्य' में हजारीप्रसाद जी ने भी इस विभाजन को अङ्गीकार कर लिया है। विश्वनाथप्रसाद जी ने रीतिबद्ध कवियों को क्लासिकल कहा है और रीति-मुक्त कवियों को रोमांटिक। रोमांटिसिज्म के लिए उन्होंने शुक्ल जी द्वारा प्रयुक्त 'स्वच्छन्दतावाद' और रोमांटिक के लिए 'स्वच्छन्दतावादी' शब्द का प्रयोग किया है। हजारीप्रसाद जी ने भी इन शब्दों को अपना लिया है। किंतु 'स्वच्छन्दतावाद' से रोमांटिसिज्म का और स्वच्छन्दतावादी से रोमांटिक का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। स्वच्छन्दता का तात्पर्य्य यदि अनुभूति और अभिव्यक्ति की मौलिक स्वतन्त्रता से है तो भी

यह शब्द रोमांटिसिज्म के लिए अपर्य्याप्त और अनुपयुक्त है। यों तो प्रत्येक युग में अपने समय की रूढ़ियों से ऊपर उठने में कवि की कृतविद्यता है, जैसा कि कहा भी है—'लीक छाँड़ि तीनों चलें, शायर सिंह सपूत।'—इस दृष्टि से तो सभी युगों में रोमांटिक साहित्यकार मिल जायँगे।

अंग्रेजी में रोमांटिक और रोमांटिसिज्म जिस युग-विशेष के साहित्यिक प्रयास के द्योतक हैं उनके लिए उपयुक्त शब्दों का निर्म्माण होना चाहिये। उर्दू में रोमांटिक के लिए 'रूमानी' शब्द चल पड़ा है जो कि एक भावपूर्ण रहस्यमयता का सङ्केत करता है। मिस्टिसिज्म का समकक्ष होते हुए भी रूमानी रोमांटिसिज्म मुख्यतः सौन्दर्य्य और प्रेम का स्वप्निल कुहुक है। देव का एक कवित्त याद आता है -

छहरि छहरि भीनी बूँदनि परति मानों
घहरि घहरि घटा छाई है गगन मैं।
आइ कह्यौ स्याम मोसों चलौ आज झूलिबे कौं
फूली ना समाई ऐसी भई हौं मगन मैं॥
चाहति उठ्योई उठि गई सो निगोड़ी नींद
सोइ गये भाग मेरे जागि वा जगन मैं।
आँखि खोलि देखौं तो न घन है न घनस्याम
वेई छाई बूँदे' मेरे आँसु ह्वै दृगन मैं॥

इस रोमांस में भी तो रूमानी दृष्टि से रोमान्टिसिज्म है। इसे प्रत्येक प्राकृतिक युग के काव्य में देखा जा सकता है। इसीलिए मैंने अपनी किसी पुस्तक में आलम्बन और अभिव्यक्ति की दृष्टि से क्लासिक रोमान्टिसिज्म और रोमान्टिक रोमान्टिसिज्म का शब्द-प्रयोग किया है। रोमान्टिक से मेरा अभिप्राय नवोद्बुद्धता से है।

यदि 'स्वच्छन्दता' ही देखनी है तो वह प्रगतिवाद में देखी जा सकती है, उसमें इसी का प्राचुर्य है। स्वच्छन्द होकर भी प्रगतिवाद रोमान्टिसिज्म नहीं है, उसमें रोमान्टिक रियलिज्म है।

शुक्ल जी ने अंग्रेजी शब्दों के लिए हिन्दी के शब्द* बनाये हैं। हिन्दी शब्दों के द्वारा उनका अपना अभिप्राय तो स्पष्ट हो जाता है, किन्तु वे शब्द अंग्रेजी के स्थानापन्न न होकर स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। अंग्रेजी शब्दों के साथ अर्थ-साम्य न होने के कारण साहित्य का आधुनिक युग अस्पष्ट रह जाता है।

हजारीप्रसाद जी ने शुक्ल जी की तरह नये शब्द बनाने का प्रयत्न नहीं किया। उपलब्ध शब्दों से ही उन्होंने आधुनिक साहित्य की इन प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला है—प्रकृतिवाद, यथार्थवाद, मानवतावाद, छायावाद, प्रगतिवाद।

नैचरलिज्म को उन्होंने प्रकृतिवाद कहा है। प्रकृतिवाद क्या है?—'इसके अनुसार मनुष्य प्रकृति का उसी प्रकार से क्रमशः विकसित जन्तु है, जिस प्रकार संसार के अन्य प्राणी। उसमें पशु-सुलभ सभी आकर्षण-विकर्षण ज्यों-के-त्यों वर्त्तमान हैं। ... यथार्थवादी लेखक ठीक इन्हीं सिद्धान्तों को नहीं मानता, परन्तु मनुष्य की ब्यौरेवार चेष्टाओं के चित्रण करते समय कभी-कभी प्रकृतिवादी लेखक के समानान्तर चलने लगता है।'

द्विवेदी जी ने जिस अर्थ में प्रकृतिवाद को लिया है उस अर्थ में यथार्थवाद उसका समानधर्मा हो सकता है और तब वह प्रकृतिवाद न होकर प्रकृतवाद हो जाता है। प्रकृतिवाद का एक उज्ज्वल पक्ष भी है जिसे छायावाद में देखा जा सकता है। वह मनुष्य की

*जैसे 'मैटर ऑफ फैक्ट' (वस्तु सत्य) के लिए 'इतिवृत्तात्मक'।

संकुचित सीमा को विस्तृत करने के लिए प्रकृति की व्यापक सत्ता की ओर आकर्षित करता है। 'पल्लव' में प्रकृति के प्रिय कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने कहा है—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?
भूल अभी से इस जग को!

ऊषा-सस्मित किसलय-दल,
सुधा-रश्मि से उतरा जल,
ना, अधरामृत ही के मद में कैसे बहला दूँ जीवन!
भूल अभी से इस जग को!

कवियों की चित्तवृत्ति के अनुसार काव्य में प्रकृति ने विविध रूप पाया है। प्रकृति अपने मूलरूप में चाहे जैसी हो किन्तु छायावाद ने उसे शोध कर एक सचेतन अस्तित्व दे दिया है। प्रकृतिवाद 'प्राकृतिक दर्शन' बन गया है। आधुनिक सभ्यता ज्यों ज्यों विभीषिका की चरम सीमा पर पहुँचती जाती है त्यों-त्यों काव्य में और जीवन में प्रकृति की ओर प्रत्यावर्त्तन का एक आह्वान सुनाई पड़ता है* जो ऐतिहासिक असन्तोष को सूचित करता है। 'युगवाणी' में पन्त जी ने कहा है—

पशु-पक्षी से फिर सीखो प्रणय-कला मानव!
जो आदि जीव, जीवन-संस्कारों से प्रेरित।

---

*जैसे दिनकर का 'चलो कवि वनफूलों की ओर!'—'वन-महोत्सव' भी यही आह्वान दे रहा है।

मनुष्य अपनी प्रवृत्तियों में इतना अस्वाभाविक अथवा अप्राकृतिक हो गया है कि वह पशु-पक्षी से भी निकृष्ट कोटि में पहुँच गया है। यह आधुनिक सभ्यता की विडम्बना है।

युग का असन्तोष तो प्रगतिवाद में भी है, गान्धीवाद में भी, छायावाद में भी; किन्तु सबके असन्तोष का लक्ष्य-उपलक्ष्य भिन्न-भिन्न है।......

द्विवेदी जी लिखते हैं—"वस्तुतः यथार्थवाद का उल्टा शब्द आदर्शवाद है और प्रकृतिवाद का उल्टा शब्द मानवतावाद क्योंकि मानवतावादी लेखक मनुष्य को पशु-सामान्य धरातल से ऊपर का प्राणी मानता है।" इस दृष्टि से छायावाद का उद्गम-स्थान कहाँ है? द्विवेदी जी लिखते हैं—"इस मानवतावादी दृष्टि के ही पेट से काव्य में छायावाद का जन्म हुआ और उपन्यास और कहानियों के क्षेत्र में सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक शोषण से विद्रोह करनेवाली स्वच्छन्दतावादी प्रेमधारा का भी जन्म हुआ।"

अपने साहित्य में तो छायावाद का जन्म मानवतावाद के भीतर से नहीं हुआ। प्रकृतिप्राण कवि पन्त ने 'युगान्त' में मानवतावाद को छायावाद के बाद अपनाया*। जिन्होंने कभी 'वीणा' और 'पल्लव' में प्रकृति के लिए मनुष्य को छोड़ दिया था उन्होंने 'युगान्त में कहा—

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर,
मानव! तुम सबसे सुन्दरतम,
निर्मित सबकी तिल-सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि में चिर-निरुपम!

---

* सम्भव है, उनके अन्तःकरण में मानवतावाद का संस्कार पहले से ही वर्तमान रहा हो और परिस्थिति-वश बाहर आ गया हो।

'युगवाणी' में उन्होंने यहाँ तक कह दिया—

हार गई तुम प्रकृति
रच निरुपम मानव-कृति

यद्यपि मानवतावादी विचारधारा विश्व-साहित्य में १९ वीं सदी में ही आ गई थी और हिन्दी के कथा-साहित्य पर भी उसका प्रभाव पड़ा होगा, किन्तु मुख्यतः वह सामाजिक सुधारों और राष्ट्रीय जागरण से ही प्रभावित रहा।

हिन्दी की अपेक्षा बँगला में (रवि बाबू के लेखों और शरच्चन्द्र के कथा-साहित्य में) मानवतावाद अधिक स्पष्ट और प्रस्फुटित रूप में मिलता है। हिन्दी में उसका अस्फुट स्वर ही 'युगान्त' से सुनाई पड़ा, इसके बाद मानवतावाद प्रगतिवाद ('युगवाणी') में विलीन हो गया, छायावाद गान्धीवाद में। छायावाद का जन्म प्रकृतिवाद के भीतर से हुआ था, इसलिए प्रकृति के पौरुष गान्धीवाद से वह समरस हो गया।

छायावाद का किसी भी विकसित जीवन-दर्शन से विरोध नहीं है। उसमें मानवतावाद के लिए भी स्थान है, प्रगतिवाद के लिए भी, यथार्थवाद के लिए भी, आदर्शवाद के लिए भी। कल तक जो छायावाद के कवि थे, वे काव्य में इन वादों की ओर भी चले गये। मूलतः छायावाद एक मानसिक भाव विकास (आत्मविकास अथवा अन्तर्विकास) है जो वस्तुतल से ऊपर उठ कर भी सब पर अपनी छाया डालता है, सबको आत्मसात् करता है। उसमें वह सौहार्द है जो सबके साथ समन्वित हो जाता है।

द्विवेदी जी ने शोषण से विद्रोह करनेवाली धारा में रोमान्टि-सिज्म को परिगणित कर उसका स्वरूप ही ओझल कर दिया।

जब शोषण से विद्रोह नहीं किया जा रहा था तब भी साहित्य और जीवन में रोमान्टिसिज्म ने स्थान बना लिया था। उसका अस्तित्व सबजेक्टिव है, न कि आबजेक्टिव। छायावाद केवल रोमान्टिसिज्म (तथाकथित 'स्वच्छन्दतावादी प्रेमधारा') नहीं है, यद्यपि वह भी उसके अन्तर्गत आ जाता है। सबको अन्तर्भुक्त करके भी छायावाद का सबसे अलग अपना वैशिष्ट्य है—जीवन का नैसर्गिक उत्कर्ष, इसके बिना कोई भी 'वाद' अनुर्वर अथवा अपकर्ष मात्र रह जायगा। प्रकृति के अमृतपर्श से वञ्चित होकर जो भी 'वाद' चलेंगे वे जीवन्मृत हो जायँगे। छायावाद के लिए उन्हें अपनाने-न अपनाने का प्रश्न ही नहीं रह जाता, क्योंकि जिनमें सञ्जीवनी शक्ति होगी वे स्वयं घुल-मिल कर उसके लिए रसायन बन जायँगे; जैसे खाद, पानी, मिट्टी।

छायावाद से 'युगवाणी' में प्रगतिवाद की ओर जाकर भी कवि पन्त ने मनुष्य के जीवन-विकास के लिए प्रकृति से ही आदर्श उपस्थित किया है—

वृक्षों से ही बढ़ो अयास
सीख राग, फल त्याग

मनुष्य का यही स्वाभाविक विकास ही उसका रोमान्टिक विकास है। सङ्कीर्ण सीमाओं से मुक्त मनोविकास और जीवन से संयुक्त अनुराग (भाव) ही उसका रोमान्टिसिज्म है। कवि यही तो चाहता है—

मुक्त जहाँ मन की गति, जीवन में रति
भव-मानवता में जन-जीवन-परिणति

—युगवाणी

छायावाद की स्थिति उस गौरीशङ्कर-शृङ्ग की तरह है जो अग-जग में रह कर भी अग-जग से तटस्थ है (लौकिक होकर भी अलौकिक है)। उसके पाद-मूल में सम्पूर्ण प्रकृति और सम्पूर्ण सृष्टि है, वह सबका शीर्षबिन्दु है। उसके पद-प्रान्तर में ऋषियों का तपोवन है, वन्य जीवों का सहज स्नेह है, सीता-शकुन्तला-राधा का जीवन-प्रवाह है। और तो और, लौकिक कुशल-क्षेम के लिए तपस्वियों की राजमन्त्रणा भी है जिसकी परम्परा इस युग में भी सेवाग्राम के सन्त-द्वारा बनी हुई थी।

हिन्दी में छायावाद इतने व्यापक रूप में नहीं आया। वह अपनी आध्यात्मिक और शृङ्गारिक अनुभूतियों में अग-जग से तटस्थ ही रहा। इसीलिए शुक्ल जी ने 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तक में छायावाद की कविता के लिए 'जगत्‌रूपी अभिव्यक्ति से तटस्थ, जीवन से तटस्थ, भाव-भूमि से तटस्थ, कल्पना की झूठी कलाबाजी' कहा है।

छायावाद की तटस्थता की प्रतिक्रिया प्रगतिवाद में हुई। छायावाद की तटस्थता उस 'भारत-सङ्घ' की तरह है जो तटस्थ होकर भी अन्तर्राष्ट्रों से, अग-जग से, विश्वजीवन से सम्बद्ध है। अपने व्यक्तित्वपूर्ण मौलिक विकास के लिए ही यह तटस्थ है।

छायावादी कवियों का दोष छायावाद पर नहीं मढ़ा जा सकता। हाँ, यह कहा जा सकता है कि इन कवियों की कविताओं में छायावाद एकाङ्गी रह गया। फिर भी 'पल्लव' के 'परिवर्त्तन' में उसका विशद रूप देखा जा सकता है।

❀ ❀ ❀

द्विवेदी जी के 'हिन्दी-साहित्य' में आधुनिक काल (विशेषतः द्विवेदी-युग के बाद के युग) का विवेचन उतना व्यवस्थित नहीं है जितना आदिकाल और मध्यकाल का। इसका कारण यह है कि प्राचीन साहित्य के लिए तो उन्हें पर्याप्त पथ-प्रदर्शन प्राप्त था, आधुनिक साहित्य के लिए अपने ही अध्ययन पर निर्भर रहना पड़ा। कुछ तो विस्मृति के कारण और कुछ तटस्थता के अभाव के कारण कई कृतित्वियों के नाम छूट गये हैं, कई फालतू नाम आ गये हैं। यदि द्विवेदी जी का ध्यान व्यक्तियों से अधिक साहित्य के धाराप्रवाह पर रहता तो यह क्रम-भङ्ग नहीं होने पाता, सन्तुलन बना रहता। प्राचीन साहित्य के अन्तर्गत जैसे सिद्ध-सम्प्रदाय की तालिका बन कर चले हैं उसी तरह यदि नवीन साहित्य की भी तालिका बना लेते तो कृति और कृती यथास्थान स्वयं समाविष्ट हो जाते।

मेरे सामने 'हिन्दी-साहित्य' का प्रथम संस्करण है। दूसरा संस्करण प्रकाशित होने पर यथावसर फिर विचार किया जा सकता है। आशा है, नये संस्करण में नवीनता और विशेषता मिलेगी।

काशी,
१।७।५२

समकालीन साहित्य

[१]

यह लो, मैं किस युग में आ गया। हमारे देश में 'अधिक अन्न उपजाओ' का नारा सुनाई देने लगा। सभ्यता, संस्कृति, कला में चरम उन्नति तक पहुँचकर अब मनुष्य के लिए जीवन-धारणा ही एक समस्या हो गया है। सूक्ष्म सतह पर जो कभी अतीन्द्रिय हो गया था, स्थूल सतह पर वह इतना ऐन्द्रयिक हो गया है कि उसकी समस्या पाशविक हो गयी है। कवि कहता है—'मनुष्यता की मूर्त्ति गढ़ोगे तुम सँवार कर चाम ?'—लेकिन समस्या हाड़-माँस-चाम की ही हो गयी है। शिष्ट समाज में जो चीज कभी बड़ी घिनौनी जान पड़ती थी आज वही अनिवार्य्य और आधारभूत आवश्यकता बन गयी है—रोटी और सेक्स। निर्म्माण के सभी सुन्दर आवरणों को हटा कर, चेतना के सभी स्तरों का प्लास्तर खिसका कर मनुष्य का बुभुक्षित कङ्काल, बाहर निकल आया है—ओह, वह कैसा खण्डहर, कैसा कङ्काल, कैसा विकराल हो गया है ! यह जीवन्मृत युग का वीभत्स श्मशान-दृश्य है।

युग-निरीक्षण

अन्य देशों में क्या हो रहा है, सभी जगह तो अधिक अन्न उपजाओ का नारा नहीं सुनाई देता।—(अमेरिका में इतना अन्न है कि उसे सँभाल कर रखना मुश्किल हो रहा है)। जिन देशों में रोटी और सेक्स का राग-रङ्ग है, भौतिक विकास का उन्माद है, उन्हीं के पतझड़ हमारे देश में दिखाई देती है। अन्न का उत्पादन तो बढ़

नहीं रहा है, जिन भौतिकवादी देशों का उत्कर्ष हमारा अपकर्ष बना हुआ है, उन्हीं का अनुकरण जीवन और साहित्य में किया जा रहा है।

देश के सामने जो स्थूल समस्या उपस्थित है, लोकोत्तर आदर्शों की दृष्टि से हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। किन्तु समस्या चाहे भौतिक हो, चाहे आध्यात्मिक, प्रत्येक रूप में वह तपश्चर्या चाहती है; अर्थ, धर्म्म, काम, मोक्ष की उपलब्धि जीवन की स्वाभाविक साधना से ही हो सकती है। मिलों के कपड़े और ट्रैक्टरों की खेती से मनुष्य नहीं जी सकता; उसे अपना पुरुषार्थ, अपना स्पन्दन चाहिये।

आज के मशीनी जमाने में अपने को आउट-ऑफ़-डेट पाता हूँ। (यों भी मैं पुराण-पन्थी हूँ। आधुनिक युग के साथ दौड़ नहीं पाता)। सन्' ४३ में प्रकाशित अपनी 'सामयिकी' में मैंने समकालीन साहित्य का यथाशक्ति अध्ययन उपस्थित किया था, अब उसका अध्ययन मेरे लिए सहज नहीं रह गया है। इस मशीनी युग में साहित्यिक उत्पादन इतना अधिक हो गया है कि वह किसी एक व्यक्ति के देखने-पढ़ने की सामर्थ्य के बाहर है।

यन्त्र-युग का अनिवार्य्य दुष्प्रभाव प्रकाशन पर पड़ा है। युद्ध के परिणाम-स्वरूप अन्य चीजों की तरह कागज भी महँगा हो गया। फिर भी जितना प्रकाशन महँगी में हुआ उतना सस्ते दिनों में नहीं। प्रेस, पत्र-पत्रिकाओं और प्रकाशन-संस्थाओं की भारमार हो गयी है, पाठकों से अधिक प्रकाशकों और लेखकों की संख्या है। आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा के कारण स्थायी साहित्य कम और बाजारू प्रकाशन अधिक हो गया है, सिनेमा और अखबार की तरह।

अन्य चीजों की तरह साहित्य का भी बाजार फैलता जा रहा है—रोज नये प्रकाशक और नये लेखक पैदा होते जा रहे हैं, क्या-क्या पढ़ें, किसका-किसका पढ़ें!

जिसे आधुनिक साहित्य कहते हैं उस साहित्य में है क्या?—अन्य देशों में जिन विकृतियों का प्राचुर्य्य हो गया है उन्हीं का एकत्रीकरण और संक्रमण। इसे ही युग-परिवर्त्तन कहा जाता है।

कल तक हमारा साहित्य कहाँ था?—वह अपने ही स्वरूप में स्थितप्रज्ञ और मूलस्थ था। विंश शताब्दी के आरम्भ में भी उसका अपने पूर्व युगों से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ था। वह गान्धी-रवीन्द्र की प्रेरणाओं से भारतीय आत्मा का प्रतिनिधित्व कर रहा था।

पीछे मुड़ कर हम देखते हैं—हमारा साहित्य विविध कालखण्डों में विभक्त होकर भी एक और अविभक्त है। वह एक ही सांस्कृतिक उद्गम से उद्गत होकर विविध स्रोतों में बहता आ रहा है। भारतीय भाषाएँ जैसे एक ही मूल धातु से निकली हैं वैसे ही भारतीय साहित्य भी एक ही मौलिक जीवन से निःसृत होता आया है।

छायावाद-युग तक हिन्दी-साहित्य उसी भारतीय जीवन का उत्तराधिकारी है। 'सामयिकी' में मैंने लिखा है—"मध्ययुग से लेकर गान्धी-रवीन्द्र-युग तक एक ही सांस्कृतिक युग क्रमशः प्रस्फुटित होता आया है। मानों, पिछले युगों ने गान्धी-रवीन्द्र-युग में एकसार होकर आधुनिक युग को भी आत्मदान दे दिया है।"

❀ ❀ ❀ ❀

वैज्ञानिक उन्नति के पूर्व सभी देशों का जीवन-प्रवाह एक-सा ही है। जिन देशों में विज्ञान और यन्त्रोद्योगों का प्रसार पहिले हुआ,

उनका सम्बन्ध अपने अतीत से विच्छिन्न हो चला, वे ठीक अर्थ में आधुनिक युग में आ गये। किन्तु भारत में बीसवीं सदी के आरम्भ में भी उन्नीसवीं सदी का वातावरण बना रहा, क्योंकि यह औद्योगिक देश नहीं, कच्चे माल के निर्यात का उपनिवेश था। वैज्ञानिक दृष्टि से यह उतना ही अपरिपक्व था जितना आधुनिक व्यापारिक दृष्टि से। यही कारण है कि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भी यह प्रायः यन्त्र-पूर्व युग (उन्नीसवीं सदी) में था। उस युद्ध के परिणाम-स्वरूप जब विदेशी प्रभाव इस देश की ओर भी ज्वार की तरह बढ़ा आ रहा था तब गान्धी जी के असहयोग-आन्दोलन ने उसका प्रतिरोध किया, भारत की मौलिकता की रक्षा के लिए स्वाधीनता का संग्राम (सत्याग्रह) किया।

प्रथम विश्वयुद्ध का प्रभाव थोड़ा-बहुत सभी देशों पर पड़ा, फिर भी उनका पूर्व रूप एकदम परिवर्त्तित नहीं हो गया, क्योंकि जीवन के पुराने साधन बने हुए थे।

प्रथम विश्वयुद्ध से देशों के नकशे ही बदल गये थे, जीवन नहीं बदला था। यों कहें कि राजनीति बदल गयी थी, युग नहीं बदला था। रूस को छोड़ कर अन्य सभी देशों का सम्बन्ध मध्यकाल से चला हुआ था। रूसी क्रान्ति अपने ही देश के भीतर प्रयोग कर रही थी, अतएव उसका प्रभाव विश्व के साहित्य और जीवन पर नहीं पड़ सका था।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद, वैज्ञानिक साधनों से देशों की दूरियाँ दूर हो जाने से एक-दूसरे के जीवन और साहित्य का सम्पर्क बढ़ता गया। पारस्परिक आदान-प्रदान से एक देश के जीवन और साहित्य की विचारधारा और शैली दूसरे देश में पहुँचने लगी। राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर बढ़ने लगी। उस समय वैज्ञानिक आविष्कारों

से पृथ्वी की शोभाश्री नष्ट नहीं हो गयी थी। मध्यकाल के ऐतिहासिक और प्राकृतिक वातावरण में जीवन और साहित्य पुरानी पृथ्वी पर नयी ऋतुओं का रूप-रङ्ग ग्रहण कर रहा था। इस तरह जीवन और साहित्य की अभिव्यक्ति बदल रही थी, आत्मा नहीं।......

दूसरे महायुद्ध ने मध्यकाल का जीवन-प्रवाह सोख लिया। जिन प्राकृतिक साधनों से पिछला जीवन सञ्चालित होता रहा उन साधनों को दूसरे महायुद्ध ने प्रायः समाप्त कर दिया। खेती और दस्तकारी के युग पर यन्त्र-युग आरूढ़ हो गया। ऐसे युग में मध्ययुग का सामाजिक जीवन और उसी के साथ-साथ उस युग का जीवन-दर्शन भी स्वप्न होता जा रहा है। अब भी सूखे आँसुओं की तरह देश-देश में मध्यकालीन सामाजिक परम्पराएँ बनी हुई हैं, किन्तु उनमें उत्साह नहीं है, उल्लास नहीं है।

दूसरे महायुद्ध के बाद विज्ञान की अभूतपूर्व उन्नति हो रही है, यन्त्र-युग परमाणु-बम तथा उससे भी भयङ्कर विस्फोटक युग की ओर अग्रसर हो रहा है। जिस तीव्र गति से विज्ञान की उन्नति हो रही है उसी तीव्र गति से साहित्य का ह्रास हो रहा है। साहित्य की उन्नति के लिए जिस उपजाऊ पृथ्वी की आवश्यकता थी वह तो दूसरे महायुद्ध की ज्वाला में ही झुलस गयी, प्राणों का पोषक तत्त्व राख में मिल गया। आगे क्या होगा? आज सभी देशों के लिए जीवन धारण करना एक विकट समस्या हो गया है।

दूसरे महायुद्ध ने जो विश्वव्यापी अकाल फैला दिया उसके कारण चारों ओर आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा प्रबल हो उठी है। उत्पादक श्रम कोई नहीं करना चाहता, उपभोक्ता सभी बनना चाहते हैं। पैसे

की शक्ति अभी शेष है, इसलिए सब लोग ओलों की तरह उसे ही बटोर लेना चाहते हैं।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद से ही संसार का आर्थिक सन्तुलन स्खलित हो गया था। अमेरिका मित्रराष्ट्रों में सम्मिलित होकर भी युद्धाक्रान्त नहीं हो सका था, अतएव, वह सबका महाजन बना रहा; आज भी महाजन बना हुआ है। उसी के कारण दूसरे महायुद्ध के बाद भी औद्योगिक अर्थशास्त्र किसी तरह जी रहा है। किन्तु सर्वसाधारण को जीवन नहीं मिल रहा है, सभी देशों में असन्तोष फैल रहा है। यन्त्र-युग के अर्थशास्त्र को नवीन नियमन देने के लिए रूस सर्वहारा का नेतृत्व कर रहा है। प्रथम महायुद्ध के बाद वह इतिहास में महत्त्वपूर्ण भाग लेने जा रहा था, यह दूसरे महायुद्ध से स्पष्ट हो गया।

क्रान्ति में सफल और निर्म्माण में स्वावलम्बी हो जाने पर प्रथम महायुद्ध के बाद रूस की सोवियट विचारधारा का प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़ने लगा। दूसरे महायुद्ध के बाद उसने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपना विशेष स्थान बना लिया। आज अमेरिका, इंगलैंड और फ्रांस की पूँजीवादी शक्तियों का वह प्रतिद्वन्द्वी है।

भारत तटस्थ है। किन्तु उसकी तटस्थता में आर्थिक स्वावलम्बन नहीं है। गान्धी जी के बाद वह औद्योगिक देशों का मोहताज है। क्या गान्धीवाद गान्धी जी के साथ ही मर गया? नहीं, वह तो विनोबा के पगों में जन-स्वावलम्बन लेकर चल रहा है। रूस यन्त्र-युग को नवनिर्म्माण देना चाहता है, विनोबा का भूदान-यज्ञ यन्त्र-पूर्व युग को नवजीवन। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जिस तरह सोवियट विचारधारा अपना मार्ग बना रही थी उसी तरह दूसरे महायुद्ध के बाद विनोबा की विचारधारा अपना मार्ग बना रही है।

सम्प्रति, जीवन और साहित्य में मार्क्सवाद (साम्यवाद) और गान्धीवाद (भाग्यवाद) का अनुसरण हो रहा है।

❀ ❀ ❀ ❀

[२]

छायावाद

सन्' ४३ में 'सामयिकी' प्रकाशित हुई थी, अब दस वर्ष बाद सन्' ५३ में हम हिन्दी-साहित्य पर दृष्टिपात कर रहे हैं। इस बीच दूसरा महायुद्ध समाप्त हुआ, भारत स्वतन्त्र हुआ, जीवन दुर्लभ हो गया, युग अपरिवर्त्तित ही रह गया। साहित्य वहीं है जहाँ दूसरे महायुद्ध के पहिले था, केवल उस समय का क्षोभ-रोष-असन्तोष ही अधिक घनीभूत हो गया है।

जीवन तो कोई निर्म्माण नहीं पा सका, किन्तु साहित्य का निर्म्माण होता जा रहा है। उसे हम भाव, विचार और कला की दृष्टि से देख सकते हैं।

द्विवेदी-युग के बाद भावजगत का प्रतिनिधित्व छायावाद ने किया था, कला का भी प्रतिनिधि वही था। साहित्य के सभी विषयों पर उसका प्रभाव पड़ा था—कविता, कहानी, निबन्ध, आलोचना, नाटक। सन्' २४ से सन्' ३६ (पन्द्रह वर्ष तक) छायावाद का हिन्दी-साहित्य में एकाधिपत्य था। देश-काल का वातावरण और परिस्थितियाँ भी उसके अनुकूल थीं। द्विवेदी-युग और गान्धी-युग ने जो सांस्कृतिक मनोभूमि प्रस्तुत कर दी थी उसी में हिन्दी का छायावाद फल-फूल रहा था। वह इन युगों की ही उपज नहीं था, हिन्दी से पहिले बँगला में रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा

से छायावाद प्रस्फुटित हो चुका था। उसका बीजारोपण १६ वीं सदी में ही हो गया था।

द्विवेदी-युग और गान्धी-युग में जिस लोकचेतना का पौराणिक रूप था, छायावाद में उसी का रोमान्टिक रूप। अंग्रेजी के साहचर्य्य में उसकी अभिव्यक्ति बदल गयी थी, किन्तु आत्मा अतीत की ही थी। अंग्रेजी के जिन रोमान्टिक कवियों के प्रभाव से छायावाद ने नयी कला पायी थी वे कवि भी अतीत के ही नवीन अभ्यागत थे। मशीन युग के पहिले की सम्पूर्ण सामाजिक और साहित्यिक चेतना एक ही वंश-परम्परा में है, अन्तर वार्द्धक्य और तारुण्य का पड़ता गया है। इसी लिए बीसवीं सदी में आकर भी छायावाद के कवि ने समय की शिराओं को, अपने युग की सीमाओं को बहुत पीछे की ओर देख कर इन शब्दों में पहिचानने का प्रयत्न किया है—

> तुम पथ-श्रान्ता द्रुपद-सुता-सी
> कौन छिपी हो अलि! अज्ञात,
> तुहिन-अश्रुओं से निज गिनती
> चौदह दुखद-वर्ष दिन रात?
>
> —('पल्लव' : 'छाया')

केवल मानवीय संवेदनशीलता की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि काव्यकल्पना की दृष्टि से भी कवि अपनी आत्मीयता का मूल सूत्र अतीत के चिरन्तन जीवन से जोड़ता है—

> सुरपति के हम ही हैं अनुचर,
> जगत्प्राण के भी सहचर;
> मेघदूत की सजल कल्पना,
> चातक के चिर जीवनधर
>
> —('पल्लव' : 'बादल')

छायावाद-युग संस्कृति की अविच्छिन्न एकसूत्रता से ही अपने पिछले युगों से सम्बद्ध हो गया था। अतीत की जो संस्कृति कभी समाज में सजीव थी वह छायावाद में क्रमशः सूक्ष्म-से-सूक्ष्म होकर केवल मानसिक रूप में ही शेष रह गयी, अनुभूति मात्र रह गयी। अब 'छाया' की तरह ही उसके लिए भी यही कहा जा सकता है—

"चिर अतीत की विस्मृत-स्मृति-सी,
नीरवता की-सी झंकार
आँखमिचौनी-सी असीम की,
निर्जनता की-सी उद्गार।"

दूसरे महायुद्ध के पहिले अपने परिपूर्ण उत्कर्ष पर पहुँच कर छायावाद ने अवकाश ग्रहण कर लिया। उसके बाद ?—युग विज्ञान की ओर, साहित्य प्रगतिवाद की ओर चला गया। आज प्रगतिवाद के वातावरण में छायावाद की स्थिति वैसी ही है जैसी द्विवेदी-युग के वातावरण में ब्रजभाषा की थी।

छायावाद (भाव-चेतना) का आरम्भ द्विवेदी-युग में ही हो गया था। प्रसाद, मैथिलीशरण, माखनलाल, सियारामशरण, मुकुटधर, छायावाद के आरम्भिक कवि हैं। उसका कला-विकास निराला, पन्त, महादेवी, रामकुमार की कविताओं से हुआ। निराला और पन्त का भी काव्यारम्भ द्विवेदी-युग में ही हो गया था। निराला जी की 'जुही की कली', पन्त जी की 'वीणा' और 'स्वप्न' उसी युग की रचनाएँ हैं।

द्विवेदी-युग के कवियों में सबसे ललित प्राञ्जल कवि मुकुटधर जी थे। उस युग में उनका वही अन्यतम मनोरम स्थान है जो

छायावाद-युग में पन्त जी का। मुकुटधर जी का काव्य-किसलय असमय ही सूख गया, किन्तु पन्त जी का काव्य-विकास वय के साथ-साथ होता गया।

द्विवेदी-युग के कवियों में मैथिलीशरण जी छायावाद की काव्य-कला का भी सौष्ठव दे सके। उनकी 'झङ्कार' में छायावाद की भावात्मा तो थी ही, द्विवेदी-युग के बाद 'साकेत' (नवम सर्ग), 'यशोधरा', 'कुणाल' में गीतकाव्य की ललित अभिव्यक्ति भी आ गयी।

छायावाद-युग में नये कवियों पर प्रसाद, माखनलाल, निराला और महादेवी का प्रभाव पड़ा। निराला के मुक्तछन्द और गीत-काव्य का प्रभाव कलात्मक है। शेष कवियों का प्रभाव भावात्मक है, वह रोमांस से सम्बन्ध रखता है। उर्दू की चटकीली रुचि और बहिर्मुखी प्रवृत्ति से अभ्यस्त नवयुवकों को वैसी ही मादकता और तीव्रता प्रसाद ('आँसू'), माखनलाल और महादेवी की कविताओं में मिली।

हिन्दी-कविता में पन्त का अप्रतिम स्थान होते हुए भी उनका प्रभाव छायावाद के नवयुवक कवियों पर नहीं पड़ा। इसका कारण यह है कि पन्त की सौन्दर्य्य-दृष्टि और काव्यकला को ग्रहण करने के लिए भीतर से उद्भिद् (उद्भावनाशील) होने की आवश्यकता थी। वह भाविकों से जीवन, स्वभाव और हृदय की शाद्वलता (अन्तःप्रस्फुटित प्रकृति) चाहती थी। उसके लिए अभ्यास ही नहीं, वैसी ही काव्य-साधना और जन्मजात प्रतिभा अपेक्षित थी। पन्त की भावप्रवणता और कलाकारिता बहुत ही सुसंस्कृत और सुगठित है; उसमें तनिक-सी भी बेमेल मिलावट नहीं है, तनिक-सी भी गद्यमयता नहीं है। सुन्दर आत्मा के सुन्दर शरीर की तरह ही

पन्त के भाव और कला एक-दूसरे के अनुप्रास बन गये हैं; उनमें सामञ्जस्य है, लय है, अभिन्नता है।

द्विवेदी-युग के कवि ठाकुर गोपालशरण सिंह पर पन्त के 'पल्लव' का प्रभाव पड़ा। द्विवेदी-युग के गद्य-संस्कार की परिणति छायावाद के भाव-संस्कार में हो गयी। आगे चल कर जब युग की वास्तविकता ने पुनः जीवन को गद्य-शुष्क बना दिया, तब पन्त की 'युगवाणी' का प्रभाव प्रगतिवाद के नवयुवक कवियों पर भी पड़ा।

जिस तरह द्विवेदी-युग में ही छायावाद का आरम्भ हो गया था उसी तरह छायावाद-युग में प्रगतिवाद का। सन्' २४ में छायावाद का पूर्ण विकास हो चुका था, उसके दस वर्ष बाद (जब छायावाद का यौवन ढल रहा था) सन्' ३४ में प्रगतिवाद का प्रारम्भ हुआ।

प्रगतिवाद

छायावाद-युग तक न केवल हिन्दी-साहित्य का, बल्कि सम्पूर्ण भारतीय जीवन का इतिहास पूरा हो जाता है; इसके बाद प्रगतिवाद के साथ जीवन और साहित्य ठीक अर्थ में आधुनिक युग में प्रवेश करता है। यद्यपि पुरानी परिस्थितियाँ और व्यवस्थाएँ अभी बनी हुई हैं, तथापि अकाल और शोषण से वे स्वतः निराधार होती जा रही हैं। युगों का आभिजात्य केवल रूढ़ संस्कार रह गया है, मनुष्य निश्चेतन प्राकृत पशु की तरह अपने-अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा है।

प्रगतिवाद : मार्क्सवाद है। वह यन्त्र-युग की उपज है। १६ वीं सदी में औद्योगिक देशों में मनुष्य बाहर से सभ्य और भीतर से

शोषक और शोषित बना हुआ था। शोषकों का समाज में सम्मान था, शोषित समूह उन्हीं को कृत्रिम भद्रता का भार ढो रहा था। आर्थिक वैषम्य से जीवन में जो भीषणता आ गयी थी वह शोषकों की सभ्यता (प्रच्छन्न बर्बरता) के घिनौने रूप को स्पष्ट कर रही थी। इस सामाजिक विकरालता और कुरूपता की ओर मार्क्स का ध्यान गया। उसने यन्त्र युग के अर्थशास्त्र को असामाजिक सिद्ध किया और साम्यवाद का सन्देश दिया।

मार्क्स का आर्थिक विद्रोह केवल यन्त्रयुग के पूँजीपतियों के ही विरुद्ध सीमित न रह कर, यन्त्रपूर्व युगों के साम्राज्यवाद और सामन्त-वाद तक फैल गया। उसने देखा कि पुरानी शोषण-प्रणाली को ही नये वैज्ञानिक एवं यान्त्रिक साधन मिल गये हैं।

गान्धी जी ने किसी युग अथवा वर्ग-विशेष को विद्वेष का लक्ष्य नहीं बनाया, उनका सङ्घर्ष एक ऐसी हिंस्र प्रवृत्ति से था जिसकी परम्परा आदिम काल से चली आ रही थी। विषम अर्थशास्त्र उस दुष्प्रवृत्ति का द्योतक अथवा प्रतीक था। स्थूल दृष्टि से मार्क्सवाद का दृष्टि-कोण आर्थिक ही रह गया, सूक्ष्म दृष्टि से गान्धी जी का दृष्टिकोण आध्यात्मिक (आभ्यन्तरिक) हो गया। केवल शोषक और शोषित की दृष्टि से देखने पर मानवता खण्डित हो जाती है। अपनी तामसिकता में शोषित भी तो असुर हो सकता है। इसी लिए गान्धी जी ने अन्तःशुद्धि पर जोर दिया। उन्होंने केवल सैद्धान्तिक आदर्श ही नहीं उपस्थित किया, व्यावहारिक (रचनात्मक) कार्य्य-क्रम भी दिया, साध्य के अनुरूप ही साधन दिया। यदि साधन ठीक नहीं है तो बड़ा से बड़ा आदर्श आडम्बर बन कर ढह जायगा। अतएव, युग के सामने सबसे बड़ी समस्या साधनों के चुनाव की है। वह सजीव होगी या यान्त्रिक? सात्त्विक होगी या अमानुषिक?

मार्क्स ने जो स्थूल दृष्टिकोण दिया वह पहिले औद्योगिक देशों (यन्त्रप्रधान देशों) में प्रचारित हुआ। अब जब कि सभी देशों में यन्त्रोद्योगों का प्रसार हो गया है, चारों ओर वर्ग-सङ्घर्ष होने लगा है।

प्रगतिवाद वर्ग-सङ्घर्ष को महत्त्व तो देता ही है, किन्तु साहित्य में वह मुख्यतः रोटी और सेक्स को लेकर अपनी रचना प्रस्तुत करता है। रोटी का सम्बन्ध अर्थशास्त्र से है, सेक्स का सम्बन्ध काम-शास्त्र से। किन्तु वर्त्तमान पूँजीवादी वातावरण में अर्थ और काम दोनों ही आर्थिक समस्या बन गये हैं। रोटी के साथ जब सेक्स जुड़ जाता है तब एक व्यक्ति (पुरुष) के साथ दूसरे व्यक्ति (स्त्री) की जीविका की भी समस्या आ ही जाती है। समस्या यहीं तक सीमित नहीं रहती, रोटी और सेक्स के संयोग से जब प्रजनन होने लगता है तब वह दाम्पत्य से पारिवारिक, पारिवारिक से सार्वदेशिक हो जाती है। यों वह एक विश्वव्यापी अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आ जाती है।

यदि पाश्चात्य देशों का अनुकरण कर अविवाहित रहने अथवा सन्तति-निरोध करने का रिवाज चल पड़ा तो भी जीवन की समस्या बनी ही रहेगी। जन-संख्या* थोड़ी हो या अधिक, उससे स्थिति में कोई परिवर्त्तन नहीं होता। जिस कृत्रिम अर्थशास्त्र से अधिक जन संख्या का निर्वाह कठिन हो गया है उसी की विकृतियों से थोड़ी जन-संख्या का भी जीवन दुर्गम ही बना रहेगा। अतएव, बुनियादी समस्या अर्थशास्त्र का स्वरूप निर्द्धारित करने की है। वह

---

* जनसंख्या के कृत्रिम अवरोध से आर्थिक व्याधियों की तरह ही नई नई सामाजिक और मानसिक व्याधियाँ फैलेंगी।

स्वाभाविक होगी या अस्वाभाविक ? वस्तुतः हमें जीवन की प्रणाली बदलने की आवश्यकता है। इसके बिना पूँजीवाद और मार्क्सवाद दोनों ही व्यर्थ हैं।

हमारे साहित्य में रोटी की समस्या तो मार्क्सवाद की दृष्टि से देखी जाती है, किन्तु सेक्स की समस्या फ्रायडियन दृष्टिकोण से। रोटी अर्थ-विज्ञान और सेक्स मनोविज्ञान की ओर है।

फ्रायडियन दृष्टिकोण तो एक फैन्टेसी बन गया है। चेतन-उपचेतन-अवचेतन ये सब केवल मानसिक भूलभुलैयाँ हैं, अपने ही स्मृतिदोष के विभ्रम-संभ्रम हैं। मन तो एक है, शरीर की स्थिति के अनुसार उसकी क्रियाएँ ही भिन्न-भिन्न हो जाती हैं, जैसे एक व्यक्ति की अनेक मुद्राएँ। अतएव, चेतन-उपचेतन-अवचेतन को स्वास्थ्य-विज्ञान की दृष्टि से देखना चाहिये। गाँव के लोग कहते हैं—जिसका आँत भारी उसका माथ भारी। क्या यह ठीक नहीं है ? आँतों पर जब आहार-विहार (रोटी और सेक्स) के अनियम से मल-मूत्र का बहुत भार पड़ जाता है तब स्नायुओं का स्वाभाविक सञ्चलन रुक जाता है। जिसे कुण्ठा या मानसिक ग्रन्थि कहते हैं वह अस्वस्थता के भार से दबी हुई स्नायुओं का गत्यवरोध है। मल-मूत्र के समुचित विसर्जन से मन का स्फुरण होने लगता है। भूली बातें याद आने लगती हैं, नयी बातें तरङ्गित होने लगती हैं। इस स्मृति और धृति को चाहे चेतना के जितने स्तरों में विभक्त कर लिया जाय, वह मनुष्य के स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य का मीटर मात्र है।

फ्रायड के अनुसार मनुष्य के पारिवारिक सम्बन्ध काम-वासना के रूपान्तर हैं। यदि रक्त-मांस के द्वारा ही सदेह सृष्टि का सृजन हुआ है तो प्राणियों में उसका आकर्षण-विकर्षण भी

स्वाभाविक ही है। किन्तु मल-मूत्र से जैसे स्वास्थ्य की साधना होती है वैसे ही रक्त-मांस से रस की। काव्य, कला, संस्कृति ये सब मनुष्य की सरस साधना हैं।

चाहे रोटी (अर्थ) हो, चाहे सेक्स (काम); वह निरी पाशविक आवश्यकता मात्र बनकर नहीं रह सकता, चेतना के संस्पर्श से उसे सौन्दर्य्य और प्रेम में मानवीय बन जाना पड़ेगा। यहीं जीवन की स्थूल आवश्यकताओं में कलाकारिता की भी सार्थकता है। कला-कारिता के लिए कल्पना-भावना अनिवार्य्य है।

प्रगतिवाद में दो प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं—एक तो प्रचार की, दूसरी रस-सञ्चार की। दूसरी प्रवृत्ति में उर्दू शायरी से प्रभावित रङ्गीन रोमांस है। मुगल काल के रसिक कवि जिस तरह उस युग-के साम्राज्य की छत्रछाया में अपनी रस-पिपासा शान्त करते थे उसी तरह नये शृङ्गारिक कवि प्रगतिवाद की ओट में अपनी विला-सिता को तृप्त करना चाहते हैं। ये अवसरवादी हैं।

सौन्दर्य्य और रूप-राग दो भिन्न तत्त्व हैं। एक में चेतना की अनुभूति है, दूसरे में ऐन्द्रयिक वासना है। इस दृष्टि से देखने पर सौन्दर्य्य एक भावात्मक अस्तित्व हो जाता है, इन्द्रियग्राह्य होकर भी अतीन्द्रिय अन्तर्बोध बन जाता है। प्रगतिशील साहित्यकार श्री नेमिचन्द्र जैन लिखते हैं—"सौन्दर्य्य का आकर्षण 'पलायन' की ही प्रवृत्ति का सूचक सर्वदा नहीं होता। साहित्यिक आलोचना में आज कल यह शब्द अनेक प्रकार के वाद-विवाद का विषय बन गया है। किन्तु सौन्दर्य्य की अनुभूति तो जीवन्तता का, जीवन की स्वीकृति का एक महत्त्वपूर्ण चिह्न है। जिस व्यक्ति में सौन्दर्य्य-बोध अत्यन्त क्षीण है उसे किस हद तक जीवित कहा जायगा, यह कहना कठिन है। सौन्दर्य्य की अनुभूति तो व्यक्तित्व को और भी

'सेन्सिटिव' और समवेदनशील बना देती है। पलायनशील साहित्य वही होगा जिसमें साहित्यकार एक प्रकार के सौन्दर्य्याभास के कल्पना-जाल में अपने दायित्त्व से भागता है, जो सौन्दर्य्य के प्रति सचमुच आकृष्ट नहीं है बल्कि सौन्दर्य्य को अपनी दायित्त्वहीनता की एक आड़ बनाना चाहता है। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ जैसे व्यक्ति सचमुच में सौन्दर्य्य-पूजक होने के कारण ही आज के अधिकांश 'प्रगतिशीलों' से अधिक ईमानदार और जीवन्त थे।"

प्रगतिवाद के जिन कवियों में प्रचार की प्रवृत्ति है उनकी कविताओं में किसी अंश तक सौन्दर्य्य की सीधी-सादी सरस कलाकारिता भी है, जैसे—

"देख आया चन्द्र गहना।
देखता हूँ दृश्य अब मैं
मेड़ पर इस खेत की बैठा अकेला।
एक बीते के बराबर
यह हरा ठिंगना चना,
बाँधे मुरैठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का,
सज कर खड़ा है।
पास ही मिल कर उगी है
बीच में अलसी हठीली,
देह की पतली कमर की है लचीली;
नील फूले फूल को सिर पर चढ़ा कर
कह रही है, जो छुये यह
दूँ हृदय का दान उसको।
और सरसों की न पूछो।
हो गयी सबसे सयानी

हाथ पीले कर लिये हैं,
ब्याह-मण्डप में पधारी
फाग गाता मास फागुन
आ गया है आज जैसे।"

प्रकृति के प्राङ्गण में ग्रामीण गृह-सुषमा का यह दर्शक कवि जब अपनी एक अन्य कविता में प्रचारक बन जाता है तब कैसा अस्वाभाविक सैनिक वातावरण उपस्थित कर देता है—

आर-पार चौड़े खेतों में
चारों ओर दिशाएँ घेरे
लाखों की अगणित संख्या में
ऊँचा गेहूँ डटा खड़ा है।
ताकत से मुट्ठी बाँधे है;
नोकीले भाले ताने है;
हिम्मतवाली लाल फौज-सा
मर मिटने को झूम रहा है।

कवि का हृदय तो सहज है किन्तु राजनीति के कारण वह अस्वाभाविक जटिलता में जकड़ गया है। पहिली कविता में कवि ने अनुभव किया था—

इस विजन में,
दूर व्यापारिक नगर से,
प्रेम की प्रिय भूमि उपजाऊ अधिक है।

व्यापारिक युग की राजनीति से क्या 'प्रेम की यह प्रिय भूमि उपजाऊ' रह सकेगी? कवि ने जिस 'व्यापारिक नगर से दूर' बैठ कर

खेतों का दृश्य देखा था वह नगर यन्त्र-युग का नरक है। प्रगतिवाद भी इस यन्त्र-युग से मुक्त नहीं है। चाहे पूँजीवाद हो, चाहे प्रगतिवाद हो, किसी भी जड़वाद में जीवन का यन्त्रीकरण कर देने से वह अनुर्वर हो जायगा। सौन्दर्य्य, प्रेम, भावना, कला, संस्कृति के विकास के लिए नैसर्गिक वातावरण चाहिये। यही तो विचारणीय है, वह वातावरण किस पथ से सुलभ हो सकेगा?

प्रगतिवाद के जिन कवियों का सम्बन्ध गाँवों से बना है, वे जीवन की ठीक दिशा (नैसर्गिक दिशा) पा जायँगे। उनके काव्य में प्रकृति का अनुराग है, ग्रामगीतों का स्वाभाविक हृदय है। एक जीवन्त चित्र देखिये—

"झुपुर-झुपुर धान के समुद्र में
हलर-हलर सुनहला विहान।
... ...
नभ में कुछ फालसई धारियाँ
नारङ्गी घन की कुछ क्यारियाँ
भाग रहे जलद सराबार हो
मार रहीं किरनें पिचकारियाँ
कुम्हड़े के फूल-सा विहँस उठा
झुर्रियों-भरा हुआ सिवान।"

सम्प्रति प्रगतिशील युग की अधिकांश रचनाओं में गम्भीर धारणा का अभाव और आवेग-उद्वेग का आधिक्य है। कला की दृष्टि से प्रगतिशील युग की विशेषता है—भाषा की वेगशीलता और अभिव्यक्ति की तीव्रता। किन्तु इसी के साथ साहित्यिक सौष्ठव (भाषा और शैली के परिष्कार) का भी ध्यान बनाये रखना चाहिये।

छायावाद के बाद की काव्यचेतना पन्त की कृतियों में और प्रेमचन्द जी (गान्धी-युग) के बाद की युगचेतना यशपाल (भूतपूर्व क्रान्तिकारी) की कहानियों और उपन्यासों में व्यक्तित्व पा सकी है। इन दोनों कलाकारों का मूल व्यक्तित्व जीवन के परिपूरक रस को भी अपना सका है—यशपाल ने वास्तविकता के अतिरिक्त कविता (सहृदयता) को स्पर्श किया है, पन्त ने कविता के अतिरिक्त वास्तविकता (ग्राम्या) को।

प्रयोगवाद

छायावाद-युग में भाव और कला का उत्कर्ष हुआ था, जैसे अपने समय की सुख-सुषमा में ब्रजभाषा में। प्रत्येक युग में कोई न कोई असन्तोष भी अपना उद्घोष करता रहता है। मध्ययुग की ऐतिहासिक सीमा में चारण-काव्य ने, द्विवेदी-युग में राष्ट्रीय काव्य ने, छायावाद-युग में प्रगतिवाद ने भी सामयिक असन्तोष व्यक्त किया। किन्तु मनुष्य के जीवन में कुछ ऐसे भी क्षण होते हैं जिनमें वह हृदय की साँस भी लेता रहता है, उन्हीं साँसों का सम्मिलन सङ्गीत के समवेत अथवा राजनीति के सर्वदल सम्मेलन की तरह साहित्य में हो जाता है। प्रयोगवाद इसी साहित्यिक सङ्गम का मुक्तक्षेत्र है, उसमें सबके अपने-अपने प्रयोगों का सहयोग है, सबकी अनुभूतियों और अभिव्यक्तियों का मनोयोग है।

'गुञ्जन' में कवि ने कहा था—

देखूँ सबके उर की डाली—
किसने रे क्या क्या चुने फूल
जग के छवि-उपवन से अकूल!
इसमें कलि, किसलय, कुसुम, शूल!

किस छवि, किस मधु के मधुर भाव ?
किस रंग, रस, रुचि से किसे चाव ?
कवि से रे किसका क्या दुराव ?

किसने ली पिक की विरह-तान ?
किसने मधुकर का मिलन-गान ?
या फुल्ल-कुसुम, या मुकुल म्लान ?

क्या प्रयोगवाद में भी सब के 'उर की डाली' का यही निरीक्षण-परीक्षण नहीं है ?

हिन्दी में 'प्रयोगवाद' के नाम से जो पन्थ चल पड़ा है वह प्रारम्भ में 'वाद' के रूप में नहीं आया था। 'तारसप्तक' के सङ्कलयिता अज्ञेय जी ने प्रथम भाग की 'विवृत्ति और पुरावृत्ति' में जो इतिवृत्त दिया है उससे ज्ञात होता है कि छपाई और पाठकों की सुविधा की दृष्टि से कतिपय नवयुवक कवियों की कविताओं का उन्हीं की आर्थिक सहकारिता से एक संग्रह प्रस्तुत करने का सङ्कल्प किया गया। सात कवियों का सहयोग प्राप्त हुआ, इसलिए संग्रह का नाम 'तारसप्तक' पड़ गया। 'तारसप्तक' के प्रकाशित होने पर इस संग्रह की कविताओं को 'प्रयोगवाद' के नाम से पहिचाना गया।

प्रयोग का अभिप्राय है अनिर्म्मित और अनिश्चित को निश्चित निर्म्माण देने का पूर्व प्रयास। प्रयोग वही कर सकता है जो स्वप्नदर्शी है। यदि स्वप्न नहीं तो प्रयोग किस पूर्त्ति का प्रयास बनेगा !

प्रयोग जीवन की दिशा में भी किया जा सकता है और कला की दिशा में भी।

द्विवेदी-युग में भी एक प्रयोग किया गया था। यद्यपि उसके

प्रयास को प्रयोगवाद नहीं कहा जा सकता, तथापि उस युग को प्रयोग-काल कहा जा सकता है। ब्रजभाषा के बाद द्विवेदी-युग ने कला की दिशा में प्रयोग किया था; खड़ीबोली की भाषा, छन्द और आलम्बन की दृष्टि से। उसका विकास छायावाद में हुआ।

द्विवेदी-युग में जीवन का प्रयोग नहीं हो सका। जीवन जब किसी मान्यता (विचार-परम्परा अथवा रूढ़ जीवन-दर्शन) पर स्थिर हो जाता है तब उसमें प्रयोग की आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रयोग के लिए मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना में आन्दोलन अथवा अन्तर्द्वन्द्व अपेक्षित है। इस दृष्टि से छायावाद भी कोई जीवन-प्रयोग नहीं कर सका। द्विवेदी-युग की सर्वजनीन चेतना ही उसमें आन्तरिक अथवा वैयक्तिक हो गयी। कवि पन्त जी ने 'पल्लव' की 'परिवर्त्तन'-शीर्षक कविता की विक्षुब्ध मनोभूमिका को अपने 'रागात्मक तत्त्व में मन्थन' कहा है। जीवन का प्रयोग इसी रागात्मक मन्थन से होता है। पन्त में आत्ममन्थन था, किन्तु अध्यात्मवाद की पुरानी सीमा में उपयुक्त क्षेत्र नहीं मिल सका। पन्त जी प्रगतिवाद की ओर चले गये।

प्रयोगवाद में जीवन और कला, दोनों का प्रयोग है। 'तार सप्तक' (प्रथम भाग) के कवियों के सम्बन्ध में अज्ञेय जी लिखते हैं—"वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मञ्जिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं—राही नहीं, राहों के अन्वेषी।"

द्विवेदी-युग के गद्य-वातावरण में जैसे छायावाद आया, वैसे ही प्रगतिवाद के शुष्क वातावरण में प्रयोगवाद। यद्यपि अज्ञेय जी के कथनानुसार प्रयोगवाद के कवि किसी एक स्कूल के नहीं हैं तथापि अधिकांशतः वे प्रगतिवाद के अनुयायी हैं। एक कवि (भारत भूषण) ने तो अपने को कम्युनिस्ट घोषित कर दिया है। उन्होंने

कहा है—"शौक दो ही चीजों का—सिनेमा और सिगरेट।" क्या कम्युनिज्म भी ऐसा ही शौक तो नहीं है!

प्रयोगवादी कवियों के विचारों पर प्रगतिवाद का और कला पर छायावाद का प्रभाव है। 'कहा जा सकता है कि प्रयोगवाद : छायावाद और प्रगतिवाद का मध्यवर्त्ती है, दोनों के बीच की कड़ी है। आज जो प्रयोग नये कवि कर रहे हैं वह प्रयोग 'युगवाणी' में पन्त जी सफलतापूर्वक कर चुके हैं—भाव, भाषा, छन्द और विचार, सभी दृष्टियों से।

द्विवेदी-युग जैसे अपनी मान्यताओं में स्थिर हो गया था, वैसे ही प्रगतिवाद भी अपनी स्थापनाओं में निश्चल हो गया है। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के पूर्व गान्धीवाद ने जीवन में प्रयोग ('सत्य के प्रयोग') किया था, यदि गान्धी जी जीवित रहते तो प्रयोग और आगे चलता रहता। गतिशीलता और प्रयोगशीलता, दोनों के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य की आत्मचेतना अवरुद्ध न हो जाय। वाद-विशेष के दुराग्रह से मनुष्य अन्ध-अनुयायी बन जाता है। वह रूढ़िवादियों की तरह ही लकीर का फकीर हो जाता है।

छायावाद से प्रगतिवाद की ओर जाकर भी पन्त जी में आत्म-निष्ठा बनी रही। 'युगवाणी' में छायावाद की कला तो है ही, उसका अन्तर-दर्शन भी गान्धी जी के आत्मदर्शन में अभिव्यक्त हो गया है। कवि ने 'युगवाणी' को 'गीत-गद्य' कहा है। गीत में भावना और कला की आत्मीयता (हार्दिकता) है और गद्य में प्रगतिवाद की वास्तविकता (युग-चेतना)। गीत-गद्य वह प्राणोदन है जो बाहर के वायुमण्डल को भीतर से ही ग्रहण-विग्रहण करता है। 'ग्राम्या' की 'कला के प्रति'-शीर्षक कविता में पन्त जी ने कहा है —

अपने अन्तर के विकास से जीवन के दल दो भर

... ...

भीतर से ही करो नियन्त्रित जीवन को, छोड़ो डर।

प्रगतिवाद के बाद 'स्वर्णकिरण' में पन्त जी ने इसी आभ्यन्तरिक प्रेरणा को प्रमुखता दी है। उन्होंने बार-बार अन्तश्चेतना (आत्मसंज्ञा) और अन्तर्जीवन का स्मरण दिलाया है। यह एक तरह से साहित्य और समाज के लिए सबजेक्टिविटी की माँग है। इसके बिना कोई भी जीवन-दर्शन शुष्क गद्य अथवा सैद्धान्तिक ठुँठ मात्र रह जायगा। भावना और कला के लिए आत्मयोग (अन्तर्योग) अनिवार्य्य है।

प्रगतिवाद के कवियों ने प्रारम्भ में छायावाद का प्रभाव ग्रहण किया, (काव्यत्व के लिए उनके सामने और कोई दृष्टान्त नहीं था); बाद में वे केवल राजनैतिक प्रचारक रह गये। प्रतिभा के अभाव को उन्होंने अपने बौद्धिक छद्मावरण में छिपा लिया। वे ग्रामगीतों, लोककथाओं और परम्पराओं को प्रश्रय देने का प्रयत्न करते हैं, क्या इसके लिए उनमें तदनुकूल हृदय है!

छायावाद की सबजेक्टिविटी (आत्मचेतना) लेकर प्रयोगवाद, प्रगतिवाद से भिन्न हो गया। वह न्यू रोमान्टिसिज्म है। प्रयोगवाद के कवियों ने प्रगतिवाद के वातावरण में छायावाद को नवीन तारुण्य अथवा नवीन कैशोर्य्य दिया। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि उनमें जीवन और साहित्य की पर्य्याप्त साधना नहीं है। यत्र-तत्र भावना में यथोचित मोहकता है, किन्तु उनकी भाषा और छन्द में अराजकता है। यदि कविता केवल लेख और वक्तृता नहीं है तो उसमें कलात्मक सौष्ठव और सन्तुलन रहना चाहिये।

प्रयोग की सार्थकता तो यह है कि पीछे के विकासों को स्वायत्त कर वर्त्तमान की परिस्थितियों में प्रकृतिस्थ रह कर भविष्य की सम्भावनाओं को सुरुचि से मनोरम आकार-प्रकार दिया जाय। यह द्विवेदी-युग, छायावाद-युग और प्रगतिशील युग से अधिक गुरुतर कार्य्य है। इस दृष्टि से हिन्दी में केवल पन्त जी ही प्रयोग-वादी (अथवा प्रयोग-सिद्ध) कवि हैं।

सम्प्रति 'तारसप्तक' के कवियों का वही स्थान है जो द्विवेदी-युग और छायावाद-युग के प्रतिनिधि कवियों के बाद छिटपुट कवियों का था। ये स्फुट प्रतिभाएँ इस संग्रह के कवियों तक ही सीमित नहीं हो सकतीं, भाव और कला की दृष्टि से इनसे भी अधिक कमनीय कवि पत्र-पत्रिकाओं में दर्शन देते रहते हैं, उनमें छायावाद की राग-वृत्ति और लोकगीतों की स्वाभाविक सृष्टि का समन्वय है। फिर इस संग्रह की क्या आवश्यकता और उपयोगिता है? 'तारसप्तक' के प्रथम भाग की भूमिका में अज्ञेय जी लिखते हैं—"ठीक यही सप्तक क्यों एकत्र हुआ, इसका उत्तर यह है कि परिचित और सहकार-योजना ने इसे ही सम्भव बनाया। इस नाते तीन-चार और भी नाम सामने आये थे, पर उनमें वह प्रयोगशीलता नहीं थी जिसे कसौटी मान लिया गया था, यद्यपि संग्रह पर उनका भी नाम होने से उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती ही, घटती नहीं।"

प्रयोगशीलता क्या है और किस लिए है? दूसरे 'सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय जी लिखते हैं—"प्रयोग निरन्तर होते आये हैं, और प्रयोगों के द्वारा ही कविता या कोई भी कला, कोई भी रचनात्मक कार्य्य, आगे बढ़ सका है। जो कहता है कि मैंने जीवन भर कोई प्रयोग नहीं किया, वह वास्तव में यही कहता है कि मैंने जीवन-भर कोई रचनात्मक कार्य्य करना नहीं चाहा; ऐसा व्यक्ति अगर सच कहता

है तो यही पाया जायगा कि उसकी 'कविता' कविता नहीं है; उसमें रचनात्मकता नहीं है; वह कला नहीं, शिल्प है; हस्तलाघव है।"

अज्ञेय जी ने उक्त भूमिका में प्रयोगशीलता पर अभिव्यक्ति अथवा कला की दृष्टि से ही विचार किया है। उनके विचार में मनोवैज्ञानिक गूढ़ता और सूक्ष्मता है। शब्दों के सम्बन्ध में उनका यह मन्तव्य ठीक है कि, "चमत्कार मरता रहता है और चमत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता रहता है। यों कहें कि कविता की भाषा निरन्तर गद्य की भाषा होती जाती है। इस प्रकार कवि के सामने हमेशा चमत्कार की सृष्टि की समस्या बनी रहती है—वह शब्दों को निरन्तर नया संस्कार देता चलता है और वे संस्कार सार्वजनिक मानस में पैठ कर फिर ऐसे हो जाते हैं कि—उस रूप में—कवि के काम के नहीं रहते।"

हाँ, जिन शब्दों का प्रभाव बाह्य रहता है (जैसे 'गुलाबी'), वे अपनी प्रभविष्णुता खो बैठते हैं; किन्तु जिन शब्दों का प्रभाव आभ्यन्तरिक होता है वे कालान्तर में भी प्रभविष्णु बने रहते हैं, क्योंकि उनमें जीवन का एक मूलभूत सङ्केत रहता है, (जैसे शतदल कमल)। यह दृश्य का ही नहीं, दृष्टिकोण (सांस्कृतिक दृष्टिकोण) का भी प्रतीक है। अतएव, जीवन और साहित्य में किन्हीं रूढ़ प्रयोगों की भी अपनी विशेषता और उपयोगिता बनी रहेगी।

प्रयोगशीलता पर जीवन की दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। मैंने कहा है कि गतिशीलता और प्रयोगशीलता, दोनों के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य की आत्मचेतना अवरुद्ध न हो जाय। आत्मचेतना ही वह सबजेक्टिविटी है जो रचना में व्यक्तित्व की शक्ति अथवा मौलिक विशेषता बन जाती है। युग की समस्याओं में आत्मचेता मनुष्य इसी सबजेक्टिविटी को अग्रसर

करने के लिए प्रयोग करता है। वह सीता की तरह अग्नि-परीक्षा देता है। जिस आत्मचेतना से जीवन का प्रस्फुटन होता है उसी से कला का भी। अतएव कोई भी प्रयोगशील कवि रोमान्टिक है। रूढ़ियों, परम्पराओं और समस्याओं से वह पीछा नहीं छुड़ाता, किन्तु इन्हीं में घिर कर इन्हीं का नहीं हो रहता, क्योंकि इनका भी सदुपयोग करना वह जानता है। वातावरण में ही उसके चैतन्य का, अस्तित्व का, व्यक्तित्व का आत्मोत्कर्ष होता रहता है। 'युगवाणी' में पन्त जी ने जो ईश्वर के लिए कहा है वही विकासोन्मुख कवि के लिए भी कहा जा सकता है—

सीमाओं में ही तुम असीम,
बन्धन नियमों में मुक्ति सतत,
बहु रूपों में चिर एक रूप,
संघर्षों में ही शान्ति महत।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की तरह ही जीवन और साहित्य में सब-जेक्टिविटी (आत्मसत्ता) का बहुत बड़ा दायित्त्व है। उसे अहम् के प्रदर्शन और आस्फालन (उच्छृङ्खलता) का साधन नहीं बनाना चाहिये। निषेधात्मक और खण्डनात्मक की अपेक्षा उसकी प्रवृत्ति रचनात्मक ही होनी चाहिये। प्रयोगशीलता भी यही चाहती है। सचाई, ईमानदारी, श्रद्धा, विश्वास से ही रचना की आत्मा निखर सकती है। बाहर की अपेक्षा द्वन्द्व (निषेध और खण्डन) पहिले अपने भीतर करना चाहिये, तभी कलाकार आत्मछलना से बच सकेगा। जो अन्तर्द्वन्द्व कर सकता है वही बहिर्द्वन्द्व भी कर सकता है। अन्तर्द्वन्द्व आत्ममन्थन है। आत्मनिरीक्षण और अन्तःशुद्धि ही जीवन और कला की साधना और तपस्या है। इसके बिना कोई भी प्रयत्न रचनात्मक नहीं हो सकता।......

'तार सप्तक' के कवियों में आत्ममन्थन है, रूमानी प्रतिभा है। यदि वे अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को सन्तुलित शक्ति बना सकें, स्वप्नों को रागसाधना दे सकें तो युग के जीवन-सङ्गीत में अपनी स्वर-लिपि की भी अमिट छाप छोड़ जायँगे।

यद्यपि दूसरे भाग के कवि बालखिल्यो ही हैं, तथापि पहिले भाग के कवियों की अपेक्षा उनमें अधिक कलाप्राणता और हार्दिक सरलता-तरलता है। पहिले 'सप्तक' के कई कवि काव्यक्षेत्र से अवकाश ले चुके हैं। उनमें शुष्कता और गरिष्ठता थी। गरिष्ठता कोष्ठबद्धता है।

कहा जाता है, असफल कवि सफल समालोचक होता है। यद्यपि इस कथन की सच्चाई में सन्देह है, तथापि इसका ठीक अभिप्राय यह हो सकता है कि जो एक क्षेत्र में असफल हो जाता है वह अपने उपयुक्त किसी अन्य क्षेत्र में सफलता पा सकता है।

तथास्तु। अब हम साहित्य के अन्य विषयों पर दृष्टिपात करें।

❀ ❀ ❀ ❀

[२]

नाटक

हिन्दी के नाट्यसाहित्य की परम्परा संक्षिप्त है, संस्कृत के नाट्य-साहित्य की परम्परा विस्तृत है। रङ्गमञ्च की दृष्टि से संस्कृत के नाटकों का निर्म्माण मध्यकाल में ही हो गया था। वह भारत के सुख, श्री, समृद्धि का स्वर्ण युग था। संस्कृत नाटकों के उन्नयन में कलाप्रेमी श्रीमन्तों का संरक्षण और प्रोत्साहन विशेष सहायक हुआ। नागरिकों और राजपुरुषों का व्यस्त जीवन प्रकृति (ऋतु-

महोत्सव) और संस्कृति (पर्व्व-त्यौहार) के वातावरण में नाटकों द्वारा विश्राम पाता रहता था।

हिन्दी-साहित्य का इतिहास प्रायः मुस्लिम काल से प्रारम्भ होता है। यद्यपि वातावरण में उसके पहिले का सामाजिक जीवन बना हुआ था, तथापि उस ऐतिहासिक संक्रमण के युग में ललित कलाएँ निरवलम्ब हो गयी थीं। एक ओर आत्मरक्षण के लिए प्रयत्न किया जा रहा था, दूसरी ओर मुस्लिम प्रभुत्व स्थापित करने के लिए आक्रमण हो रहा था। जीवन स्वयं एक दुर्द्धर्ष रङ्गमञ्च बना हुआ था। वह हिन्दी का वीरगाथा काल है।.........

मुस्लिम शासन के स्थापित हो जाने पर जीवन की मूर्त्त अभिव्यक्तियों के लिए समुचित क्षेत्र नहीं मिला, क्योंकि वह मुर्त्तिपूजा का ही नहीं, सभी ललित कलाओं (चित्र, सङ्गीत, गान, वाद्य) का विरोधी था। उस शासन की सङ्कीर्ण साम्प्रदायिक प्रवृत्ति निषेधात्मक थी। ऐसे समय में हिन्दी का रङ्गमञ्च तो नहीं बन सका, किन्तु जनता अपने धार्म्मिक उत्साह से दृश्यकाव्य को सजीव बनाये रही। रामलीला-रासलीला उसी जनता की अवशिष्ट कलापरम्पराएँ हैं। मुस्लिम शासन में भी समय-समय पर उदार, सहृदय और रसिक शासकों का सहयोग जनता को मिलता रहा, इसीलिए हमारी संस्कृति और साहित्य का सर्वथा तिरोभाव नहीं हो गया।

मुस्लिम शासन के बाद भारतीय रङ्गमञ्च की स्थापना का कुछ प्रयत्न ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय में किया गया था। इसका आभास सन्' ५७ के पहिले झाँसी के राजा के प्रयास से मिलता है। सम्भव है, मुस्लिम शासन में भी हिन्दू नृपतियों

द्वारा नाट्यकला का प्रदर्शन होता रहा हो। इस दिशा में महाराष्ट्रों और दाक्षिणात्यों का उत्साह आज भी उज्जीवित है।

हिन्दी में नाटक और रङ्गमञ्च के लिए व्यवस्थित प्रयत्न सर्व-प्रथम भारतेन्दु-युग में किया गया। भारतेन्दु के सामने संस्कृत और बँगला का नाटकीय आदर्श था, किन्तु उन्होंने इन दोनों का अविकल अनुकरण नहीं किया। जैसे भारतीय संस्कृति को शिरोधार्य्य करते हुए भी भारतेन्दु ने परम्पराओं और रूढ़ियों से अंशतः मुक्त होकर नवीन राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना ग्रहण की, वैसे ही उन्होंने कुछ साहित्यिक स्वतन्त्रता भी ली। उनका हृदय मध्यकाल में था, जीवन आधुनिक काल में।

द्विवेदी-युग की खड़ीबोली के नवीन काव्य-प्रयास की तरह ही अपने युग में दृश्यकाव्य के लिए भारतेन्दु का नाटकीय प्रयास भी प्रारम्भिक ही था। उन्होंने बच्चों-जैसी अविकसित जनता को जगाने के लिए नाटक लिखे थे। उनके नाटकों में रङ्गमञ्च की उपयोगिता है, साहित्यिक गरिमा नहीं। भारतेन्दु की अपेक्षा उनके युग के राधाकृष्णदास के 'महाराणा प्रताप', श्रीनिवास-दास के 'संयोगिता-स्वयम्बर' और 'रणधीर प्रेम मोहनी' में साहित्यिक उत्कर्ष भी है। उस युग में अन्य लेखकों द्वारा भी छिटपुट नाटकीय प्रयास होते रहे। सब मिला कर वह युग आधुनिक हिन्दी-साहित्य का आदि काल है।

भारतेन्दु-युग के बाद ब्रजभाषा और खड़ीबोली की प्रतिस्पर्द्धा से साहित्य की नवीन अभिव्यक्तियों के लिए भाषा का भाग्यनिर्णय होने लगा। इस बीच हिन्दी का रङ्गमञ्च साहित्यिकों के हाथ से निकल कर व्यवसायियों के हाथ में चला गया।

खड़ीबोली की स्थापना हो जाने पर फिर हिन्दी-साहित्य का

सर्वाङ्गीण विकास होने लगा। द्विवेदी-युग और छायावाद-युग के बीच में या तो भारतेन्दु-काल के नाटक खेले जाते थे, या बँगला से अनुवादित द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक, या पारसी थियेट्रिकल कम्पनी के नाटक। इन प्रदर्शनों में रङ्गमञ्च को प्रधानता मिल गयी थी, जिसका कारण व्यावसायिक नाटक कम्पनियों का चटकीला-भड़कीला प्रभाव था। जिनमें साहित्यिक सुरुचि बनी हुई थी वे रङ्गमञ्च और परिष्कृत नाट्यकला के संयोग से मध्यकोटि के नाटकों की रचना कर रहे थे। 'कृष्णार्जुन युद्ध' इसी सन्धिकाल का नाटक है। श्री गोविन्दवल्लभ पन्त की 'वरमाला' सचमुच हिन्दी नाट्यकला की 'वरमाला' ही है। यह रङ्गमञ्च और साहित्यिक सुषमा, दोनों ही दृष्टि से पूर्ण सफल रचना है। इस छोटी-सी पुस्तिका में भाषा, भाव, वातावरण और नाटकीय व्यञ्जना कितनी सरलता और सरसता से सुसङ्गटित हो गयी है। यह हमें संस्कृत नाटकों के युग में उठा ले जाती है, मानों उसी युग की नाट्यकला ने मनोहर कैशोर्य्य पा लिया है। 'वरमाला' प्रत्येक युग के साहित्य में स्पृहणीय बनी रहेगी।

द्विवेदी-युग के बाद जैसे काव्यकला में परिवर्त्तन हुआ, वैसे ही नाट्यकला में भी। स्थूल दृश्य-जगत अन्तर की सूक्ष्म अनुभूतियों में परिणत हो गया। यह है छायावाद-युग। भारतेन्दु-युग के बाद हिन्दी के शीर्षनाम नाटककार प्रसाद जी हैं। उनके ऐतिहासिक नाटक प्राचीन भारत का (आसेतु-हिमाञ्चल के विराट व्यक्तित्व का) प्रतिनिधित्व करते हैं। उस युग का वातावरण, चरित्र-चित्रण और जीवन-दर्शन इतना प्रत्यक्ष हो उठा है कि दृश्य और द्रष्टा एक हो जाते हैं।

प्रसाद जी के नाटकों में राजनीति के रङ्गमञ्च पर संस्कृति और भावना का सम्मिलन है। संस्कृति के कारण बाहर के सङ्घर्ष में

भीतर का भी संघर्ष सन्निहित है, भावना के कारण अन्तर्बाह्य सङ्घर्ष में हृदय का रस-द्रवण भी है। यों कहें, बाह्य सङ्घर्ष के सामने वक्षस्थल है, उसके भीतर धड़कन (अन्तर्द्वन्द्व अथवा आत्ममन्थन), उसके अभ्यन्तर में मर्म्मस्पन्दन (हृदय का प्रस्फुरण)। त्रिवेणी की तरह ही प्रसाद के नाटकों में भी जीवन की कितनी विविधता और एकता है।

भाषा और संलाप की भावप्रवणता और गहनता के कारण वस्तुप्रवण विचारक, प्रसाद के नाटकों को केवल काव्य मानते हैं; दृश्यकाव्य नहीं। किन्तु भाषा और संलाप के अतिरिक्त भी उनके नाटकों में बहुत कुछ है—चरित्र-चित्रण, घटनाओं का सङ्घटन, क्रियात्मक आकर्षण। अपनी साङ्केतिक अभिव्यक्तियों में ही प्रसाद ने अतीत के कुहासे के भीतर से जिन ज्योतिर्म्मय मुखों को उद्भासित कर दिया है उन्हें कौन भूल सकता है! याद आती है देवसेना, याद आता है स्कन्दगुप्त, याद आता है चन्द्रगुप्त और सिंहरण, याद आता है चाणक्य।

प्रसाद के भावपूर्ण उद्गारों पर बँगला का और नाट्यकला पर संस्कृत का कुछ प्रभाव पड़ा है। फिर भी कविता में जैसे उनका मौलिक निर्म्माण है वैसे ही नाटकों में भी। उनके नाटकों का अपना विधान है, अपना। शिल्प-तन्त्र। हिन्दी के नाट्यसाहित्य में उनकी प्रतिभा अद्वितीय है।

कहा जाता है, प्रसाद के नाटक रङ्गमञ्च पर खेले नहीं जा सकते। इससे यह प्रमाणित होता है कि जनता का मानसिक स्तर अभी बहुत नीचे है। नाटक की सफलता के लिए रङ्गमञ्च की उपयुक्तता ही सब कुछ नहीं है। रङ्गमञ्च पर तो स्वाभाविक-अस्वाभाविक सभी तरह के अनाप-शनाप खेल दिखलाये जा सकते

हैं—जैसे पारसी कम्पनियों के नाटक, सिनेमा के भोंड़े दृश्य, वैराइटी शो। इस रूप में प्रसाद के नाटक रङ्गमञ्च की सस्ती समस्या-पूर्त्ति नहीं करते। नाटककार की कलासाधना की तरह संयोजकों को रङ्गमञ्च के लिए भी कुछ साधना करने की आवश्यकता है। जहाँ ऐसा प्रयास किया गया है वहाँ प्रसाद के नाटक रङ्गमञ्च पर भी प्रभावोत्पादक सिद्ध हुए हैं।

श्री जगदीशचन्द्र माथुर लिखते हैं—"वातावरण के द्वारा 'प्रसाद' अपने नाटकों की रङ्गमञ्च के लिए अनुपयुक्तता की कमी को पूरा कर लेते हैं; जहाँ वातावरण ही कल्पना को इतना उत्तेजित कर सके कि वह रङ्गमञ्च की सहायता के बिना ही अभीष्ट लोक का सृजन कर ले, वहाँ रङ्गमञ्च के बिना भी काम चल सकता है।"

वातावरण से केवल बाह्य प्रत्यक्षीकरण होता है। वातावरण के अतिरिक्त प्रसाद की विशेषता उनकी सांस्कृतिक भाषा में भी है, उसी के द्वारा उनके अभीष्ट युग का अन्तःकरण भी बोल उठता है, सजीव हो जाता है। ऐतिहासिक कथानकों के लिए भाषा एक बहुत बड़ा माध्यम है, जिसकी ओर बहुत कम लेखकों का ध्यान गया है।

शैली की दृष्टि से छायावाद के अन्तर्गत होते हुए भी ऐतिहासिक कथानक के कारण प्रसाद के नाटक सर्वथा काल्पनिक नहीं हैं, उनमें सामाजिक वास्तविकता भी है। छायावाद का पूर्णतः काल्पनिक रूपक श्री सुमित्रानन्दन पन्त की 'ज्योत्स्ना' है। इसकी प्रतीक कला हिन्दी में बिलकुल अकेली है। यह मानसिक सृष्टि है, भावनाट्य है, स्वप्नचित्र है। प्रसाद के नाटकों की अपेक्षा इसके लिए रङ्गमञ्च की समस्या कठिन है। पन्त जी ने स्थल-स्थल पर आधुनिक टॉकी का दृश्यनिर्देश किया है।

'ज्योत्स्ना' की भावनाओं और गीतों में सरसता और स्वाभाविकता है; किन्तु इसके सैद्धान्तिक विचारों में उतनी ही जटिलता है जितनी प्रसाद जी के नाटकों के भावात्मक उद्गारों में। पन्त का हार्दिक पक्ष सहज है, प्रसाद का बौद्धिक पक्ष। 'ज्योत्स्ना' के गूढ़ गहन वार्त्तालापों को यदि कुछ सरल सङ्केतों में संक्षिप्त कर दिया जाय तो शेष अंश रवि बाबू के भावनाट्यों की तरह ही सुगमता से अभिनीत हो सकता है।

प्रसाद की नाट्यकला का प्रभाव नई पीढ़ी पर पड़ा है। नवयुवक नाटककारों में जगदीशचन्द्र माथुर और कमलाकान्त वर्मा, 'प्रसाद' के पदचिह्नों पर चले हैं। वर्म्मा जी का एक ही एकाङ्की नाटक ('उस पार') पढ़ने का अवसर मिला है, उसमें प्रसाद का भाव-जगत नवीन तारुण्य से निखर गया है, प्राञ्जल हो गया है। वर्म्मा जी की प्रतिभा से और भी बहुत कुछ पाने की प्रतीक्षा है।

जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क', प्रसाद के नाटकों की तरह ही अपने युग के वातावरण को सजीव कर सका है। अतीत की ओर उन्मुख होते हुए भी माथुर जी जीवन और कला में आधुनिक युग से भी सहयोग ले रहे हैं। 'कोणार्क' में सर्वहारा की सामाजिक चेतना और रङ्गमञ्च की सर्वाङ्गीण योजना है। वे प्रसाद की नाट्यकला के लिए रङ्गमञ्च को प्रशस्त कर रहे हैं। उनके दृष्टिकोण में व्यापकता है। एक ओर वे नाटकों के टेकनिक में संस्कृत नाट्यकला का नवीन रूपान्तर और पाश्चात्य नाट्यकला का भारतीयकरण कर रहे हैं; दूसरी ओर रङ्गमञ्च की दृष्टि से जननाट्य, सिनेमा और रेडियो की विशेषताओं का संयोजन कर रहे हैं। यों कहें, देश-काल की दूरियों को निकट ला रहे हैं, सीमाओं को विश्व-रूप दे रहे हैं। उनके सत्प्रयत्न से हिन्दी

नाट्यकला का अभ्युत्थान हो रहा है, वह उज्ज्वल भविष्य की ओर जा रही है।

प्रसाद के अतिरिक्त उदयशङ्कर भट्ट और हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने भी ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं। ये दोनों नाटककार कवि भी हैं, स्वभावतः इनके नाटकों में सरसता भी है। आचार्य्य शुक्ल जी को भट्ट और प्रेमी के नाटक 'प्रसाद' के नाटकों से अधिक पसन्द आये, इसका कारण यह जान पड़ता है कि उनमें रहस्यमयता नहीं है, कथानक उभरे हुए हैं।

छायावाद एक भावादर्श को लेकर चला आ रहा था। उसके बाद पाश्चात्य साहित्य और राजनीतिक चेतना के प्रभाव से सैद्धान्तिक अथवा बौद्धिक आदर्श का आरम्भ हुआ। लक्ष्मी-नारायण मिश्र इसी आरम्भ-काल के नाटककार हैं। प्रसाद के नाटकों की अपेक्षा मिश्र जी के नाटक सुगम हैं, किन्तु उनमें स्वा-भाविकता नहीं है; पात्र नाटककार के दुभाषिया हैं, स्वतः उद्गीर्ण नहीं। यही बात कई नये नाटककारों की कृतियों के लिए भी कही जा सकती है।

अश्क ने लिखा है—"मिश्र जी इबसन से प्रभावित होकर भी भारत और उसकी प्राचीन संकृति के प्रेमी हैं।" किन्तु मिश्र के नाटकों में भारत की शीलता-शालीनता नहीं है। प्रेम के प्रसङ्गों में उनकी चेष्टाएँ पाश्चात्य ढंग की हो जाती हैं। अनुभव-शून्य नवयुवकों पर जैसे अंग्रेजी शिक्षा का प्रगल्भ प्रभाव पड़ा था, वैसे ही हिन्दी की नयी नाट्यकला की आरम्भिक स्थिति में स्वस्थ यथार्थवाद से अनभिज्ञ होने के कारण, मिश्र के नाटकों का भी अपरिपक्व प्रभाव पड़ा था।

मिश्र के नाटकों को हम संलाप मात्र कह सकते हैं। वे

रङ्गचित्र नहीं, ड्राइङ्ग के रूखे-सूखे रेखाचित्र हैं। इधर 'वत्सराज' में कुछ भावानुरञ्जकता आ गयी है। संलाप के अतिरिक्त नाट्य-भङ्गिमा भी है। भाषा में सांस्कृतिक हृदय है, यद्यपि शब्दों में कहीं-कहीं हलकापन है, जैसे 'गनगना' उठना। इस नाटक में प्रसाद के 'अजातशत्रु' (बौद्ध प्रभाव) की प्रतिक्रिया और अन्त में 'कामायनी' (हिन्दू दर्शन) का प्रभाव है।

पाश्चात्य साहित्य का जो प्रभाव मिश्र के नाटकों में भारतीय आवरण से आवेष्टित है, वह भुवनेश्वर प्रसाद के 'कारवाँ' में उघर गया है। ऐसा जान पड़ता है कि लेखक ने अपने अध्ययन का हिन्दी में मौलिक रूपान्तर कर दिया है। देश-काल-वातावरण और परिस्थिति का कोई ध्यान नहीं रखा है।

इसके पहिले कि हिन्दी का नाट्य साहित्य यथार्थवाद की ओर चला जाय, बीच में आदर्शवाद के एक प्रतिनिधि नाटककार का अवतरण हुआ—वे हैं सेठ गोविन्ददास। उनके नाटकों के सम्बन्ध में जगदीश चन्द्र माथुर के इस मन्तव्य से मैं सहमत हूँ—"नाटक स्थूल रूप से समस्यामूलक हैं; कलापक्ष उनका क्षीण है, रङ्गमञ्च के प्रति वे उदासीन हैं; उनके पात्र 'टाइप्स' होते चले जा रहे हैं, पहचाने जा सकने वाले व्यक्ति नहीं बल्कि विचारधारा और वर्ग के मूर्त्तिमान स्वरूप।"

रङ्गमञ्च की दृष्टि से सेठ जी के नाटक दृश्याकर्षण की ओर हैं। मिश्र के नाटकों की तरह इनके नाटकों को भी संलाप-प्रधान कहा जा सकता है। रसात्मकता की कमी है, शुष्क बौद्धिक (सैद्धान्तिक) आदर्शवाद का प्रतिपादन है। 'कुलीनता', 'सेवापथ', 'पाकिस्तान' में अपेक्षाकृत अन्यान्य नाटकीय विशेषताएँ (घटना, क्रिया, रसोद्रेक) भी हैं।

बड़े नाटकों का युग महाकाव्यों का युग था। अब मुक्तक पदों

की तरह ही एकाङ्की नाटकों का युग चल रहा है। इस युग में नाटककारों की संख्या बढ़ गयी है।

नये नाटककारों में साहित्य की सभी प्रवृत्तियों (छायावाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद) के प्रतिनिधि हैं। अभी कोई ऐसी बड़ी प्रतिभा सामने नहीं आयी है जिस पर दृष्टि ठहर सके, फिर भी जो हैं वे जगमगाते नक्षत्रों की तरह किसी प्रकाशमान प्रतिभाशाली के आगमन की सूचना दे रहे हैं। प्रोफेसर शिवाधार पाण्डेय ने श्री रामकुमार वर्म्मा के सम्बन्ध में 'सरस्वती' में लिखा था—"रामकुमार जी जितने उत्तम कवि हैं, उससे कहीं उत्तम नाटककार हैं। यदि वह एकांकियों का मोह छोड़ दें, क्योंकि उन्होंने उस अखाड़े में काफी कसरत कर ली है, तो वह कुछ ओजस्वी नाटक अवश्य लिख जायँगे, जिनसे भारत का भविष्य उज्ज्वल होगा और भारतमाता गद्गद् हो आशीर्वाद देगी।"

इस युग की मुख्य प्रवृत्ति सामाजिक दृष्टि से यथार्थवाद और राजनीतिक दृष्टि से प्रगतिवाद है। दूसरे महायुद्ध के पहिले के भारतीय वातावरण में जो कुछ अस्वाभाविक जान पड़ता था, वह विश्वजनीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण स्वाभाविक होता जा रहा है। यह स्वाभाविकता अस्वस्थ मनःस्थिति (विक्षिप्तता) की उपज है। यों तो अशान्ति और युद्ध भी जीवन के स्वाभाविक कृत्य हैं, किन्तु इनसे भी बड़ी कोई ऐसी चीज है जिसके अस्तित्व की रक्षा के लिए ही सैनिक रणक्षेत्र में जाता है। वह है सामाजिकता, पारिवारिकता, गार्हस्थिक ममता। यही वह आधारपीठ है जिस पर युग का स्थायी जीवन निर्भर है। संक्रान्तिकाल जलप्लावन की तरह है, गृहजीवन सरिता के उस सतत प्रवाह की तरह जो देश-काल की परिस्थितियों से उद्वेलित और उच्छ्वसित होकर भी

निजी गति-मति-यति से संसरण करता रहता है। उसी से मानवीय चेतना का विकास और सामाजिक सम्बन्धों का प्रसार होता है। साहित्य में उस मूलभूत जीवन की संस्कारिता और आत्मीयता बनाये रखना है।

एकाङ्की नाटकों में यथार्थवाद और प्रगतिवाद की दृष्टि से जीवन के जो उच्छृङ्खल खण्डचित्र उपस्थित किये जा रहे हैं उनकी कथावस्तु अखबारों की तात्कालिक घटनाओं और सामयिक उपयोगिता रेलवे के टाइम-टेबुल से अधिक नहीं है। बाहरी प्रभावों से ही जो आन्दोलित हो उठते हैं उनमें अध्ययन और अनुकरण मात्र है, मनन-चिन्तन और अन्तःकरण नहीं। इनकी अपेक्षा उन लेखकों में स्वारस्य है जिनका जीवन घरेलू वातावरण में घुलमिल गया है, जैसे अश्क, उदयशङ्कर, विष्णु प्रभाकर।

कहा जाता है, आज के व्यस्त जीवन में समयाभाव के कारण एकाङ्की नाटकों का प्रचार बढ़ रहा है। यदि यह कारण ठीक है तो लोग रात-रात भर जाग कर सिनेमा क्यों देखते हैं? बेकारी, असंस्कारिता और मनोरञ्जन का क्षेत्र सङ्कुचित हो जाने के कारण समय इतना फालतू हो गया है कि वह काटे नहीं कटता। समय का नहीं, जीवन का अभाव है। लोग कृत्रिम यान्त्रिक वातावरण में कृत्रिम तरीकों से जी रहे हैं। पुरुषार्थ क्षीण होता जा रहा है। सिनेमा के प्रचार और रङ्गमञ्च के ह्रास का कारण सामाजिक निर्जीवता है। मनुष्य की नैसर्गिक जीवनी शक्ति के पुनरुत्थान की आवश्यकता है।

कहानी और उपन्यास

एक ओर एकाङ्कियों के आगे बड़े नाटकों का महत्त्व कम

होता जा रहा है, दूसरी ओर उपन्यासों के आगे कहानियों का। कारण लेखकों का रुचि-वैभिन्य और रचना-सौकर्य है।

भारतेन्दु-युग में कहानी की अपेक्षा उपन्यास का उत्कर्ष हुआ। देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास उसी युग के कथाविन्यास हैं। अपने युग की सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना इनके उपन्यासों में नहीं मिलती। देश-काल के सामयिक प्रभाव से ये अछूते कैसे रह गये?—मध्ययुग में भी तो सभी चारण और वैतालिक ही नहीं थे। भक्ति और प्रेम की कविताओं में जनसाधारण का जो सामाजिक जीवन रसमग्न होता आ रहा था उसी का प्रतिनिधित्व देवकीनन्दन और किशोरी-लाल गोस्वामी के उपन्यासों ने किया।

देवकीनन्दन खत्री को तिलस्मी उपन्यासों की प्रेरणा उर्दू से मिली। घटनाओं में जटिलता होते हुए भी उनकी भाषा और शैली में सरलता की सादगी है। गान्धी जी ने उनकी भाषा को राष्ट्रभाषा के आदर्श के रूप में पसन्द किया था।

गोस्वामी जी को औपन्यासिक प्रेरणा बँगला से (बङ्किमचन्द्र के उपन्यासों से) मिली थी। उन पर उर्दू का भी प्रभाव जान पड़ता है, इसी लिए नीलपरी 'नीलाम्बरा सुन्दरी' हो गयी है। किन्तु व्रजभाषा और संस्कृत के शृङ्गारिक संस्कारों के कारण उनके उपन्यासों में उर्दू का छिछलापन नहीं, बल्कि गहरी और लहरीली रसिकता है। भाषा और शैली में रङ्गीनी और साहित्यिक छटा है।

ये दोनों उपन्यासकार रोमांस के चित्रकार हैं। किन्तु दोनों में मनोवृत्तियों का अन्तर है। खत्री जी रङ्गमञ्च के तटस्थ दर्शक हैं,

गोस्वामी जी रङ्गमञ्च के नायक हैं, श्रीरङ्ग हैं। उनका हृदय ही कथा में रसमय हो गया है।

भारतेन्दु-युग में जो राष्ट्रीय और सामाजिक जागरण हुआ वह द्विवेदी-युग में नवजीवन बन गया। मध्ययुग का रोमांस पीछे छूट गया। कथा-साहित्य तिलस्म से निकल कर पृथ्वी की खुली सतह (स्वाभाविक धरातल) पर आ गया। सार्वजनिक चेतना के अतिरिक्त सामाजिक और गार्हस्थिक सुख-दुख भी व्यक्त होने लगा। इस लोकजीवन का प्रतिनिधित्व स्वर्गीय प्रेमचन्द की रचनाओं ने किया। उनका 'सप्त सरोज' नये कथा-साहित्य की प्रवेशिका है। उसे देखने से स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु-युग के बाद हिन्दी का कथा-साहित्य कैसा सुसङ्गठित रूप पा गया।

'सप्त सरोज' की कहानी-कला में हिन्दी का व्यक्तित्व है, अपनापन है। रोमांस और तिलस्म के युग में प्रेमचन्द जी ने कहानी का यह नया देसी ढाँचा कहाँ से पा लिया? उर्दू से उन्होंने भाषा का सहज स्वभाव लिया, उसका क़िस्सापन नहीं। बँगला का प्रभाव उन पर नहीं पड़ा। तो क्या प्रेमचन्द जी ने अंग्रेजी से कहानी का नया ढाँचा पाया? सम्भव है, जैसे अंग्रेजों के सम्पर्क से सार्वजनिक प्रेरणा मिली, वैसे ही अंग्रेजी के सम्पर्क से साहित्यिक प्रेरणा भी मिली हो। शायद सार्वजनिक चेतना के भारतीयकरण की तरह ही प्रेमचन्द जी ने अंग्रेजी की कहानी-कला का स्वदेशीकरण कर दिया है, ठीक उसी तरह जैसे टाल्स्टाय की कहानियों के अनुवाद को देसी लिबास पहना दिया है।

प्रेमचन्द जी की कहानी-कला १९ वीं सदी के अंग्रेजी साहित्य से प्रेरित जान पड़ती है। प्रथम विश्वयुद्ध के पहिले तक आंग्ल साहित्य में अपनी मध्यकालीन स्वाभाविकता बनी हुई थी, इसी लिए

प्रेमचन्द जी का उसके साथ रुचि-साम्य हो गया। वे पुरानी पीढ़ी के ही ऐसे नये साहित्यकार थे, जिसकी इन्द्रियाँ देश-काल के वातावरण से भी जीवनी शक्ति ग्रहण कर रही थीं। अपने युग में भारतेन्दु जिस तरह प्राचीन होकर भी आधुनिक थे, उसी तरह प्रेमचन्द द्विवेदी-युग में। अन्तर यह है कि भारतेन्दु की मध्ययुगीन आत्मा हिन्दू-काल की थी, प्रेमचन्द जी की आत्मा मुस्लिम-काल की।

प्रेमचन्द जी की कहानी-कला में कविता की छन्दोबद्धता की तरह ही एक नियमबद्धता है। कुलीन गृहस्थों की रीति-नीति जैसी नपी-तुली होती है वैसी ही उनकी कहानी की रचना-प्रक्रिया भी सधी-बँधी है। ड्राइंग की रेखाओं और ट्रेन की पटरियों की तरह वह सीमित है। टेकनिक में ही नहीं, जीवन में भी एक निश्चित रहजीव और सन्तुलित आदर्श है। इस तरह की कहानियों में कथानक, घटना और स्वभाव का संघटन रहता है। स्वभाव का सम्बन्ध परिस्थितियों से नहीं, मूलभूत संस्कारों से जान पड़ता है; कथानक और घटना से उसका उद्रेक होता है। कहानी अभी मनोवैज्ञानिक नहीं बन सकी थी।

प्रेमचन्द जी की शैली के ही अन्तर्गत सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ शर्म्मा 'कौशिक' और ज्वालादत्त शर्म्मा की कहानियाँ हैं। द्विवेदी-युग के इतिवृत्त-पद्य की तरह वे कहानियाँ भी इतिवृत्तात्मक थीं। उसी युग में छायावाद के आरम्भ की तरह बँगला के प्रभाव से कहानी की काव्यात्मक शैली का भी श्रीगणेश हो गया था। इस शैली में कथानक और घटना की अपेक्षा भावना और मनोराग का रसोत्कर्ष था। इस शैली के कहानीलेखकों में जयशङ्कर 'प्रसाद' और राय कृष्णदास अग्रणी हैं।

बिहार के राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह ने भी द्विवेदी-युग में ही कथा-साहित्य में प्रवेश किया था, किन्तु वर्षों तक साहित्य-क्षेत्र से तिरोहित रहने के कारण उनकी कलम की करामात बहुत बाद में देखने को मिली। प्रेमचन्द और प्रसाद की तरह उनका भी शैली-वैशिष्ट्य है। वे समाज की सभी श्रेणियों, जीवन की सभी परिस्थितियों और व्यक्ति की सभी प्रवृत्तियों के सिद्धहस्त लेखक हैं। उनमें अनुभूति-प्रवणता (संवेद्यता) है। जब जिस रस का उन्मेष करना चाहते हैं उसे सजीव और साकार कर देते हैं। भाषा में उनकी अपनी विशेषता है, वह प्रतिदिन की बोलचाल की तरह सहज स्वाभाविक और प्रसङ्गानुरूप मार्म्मिक है। किन्तु संस्कृत शब्दों के साथ उर्दू शब्दों का सामञ्जस्य न हो सकने के कारण वह कृत्रिम हिन्दुस्तानी भी हो जाती है।

यों तो द्विवेदी-युग में कई अच्छे कहानी-लेखक आ गये थे, किन्तु आगे चल कर तीन लेखकों की रचनाओं ने हिन्दी-कथा-साहित्य को विशेष प्रभावित किया। वे हैं—प्रेमचन्द, जयशङ्कर 'प्रसाद', चन्द्रधर शर्म्मा गुलेरी।

गुलेरी जी ने दो-चार कहानियाँ ही लिखी थीं जिनमें से 'उसने कहा था' शीर्षक कहानी आज भी बेजोड़ बनी हुई है। इसमें शैली-वैचित्र्य है। इस कहानी का कथा-प्रवाह अपने आवेग से द्विवेदी-युग की बँधी-बधाई क्यारियों (सीमित शैलियों) को तोड़-फोड़ कर उन्मुक्त स्रोत की तरह बह चला है। प्लॉट के खुले मैदान में इच्छानुरूप घूमता-खेलता और मुड़ता-ठिठकता है। मुक्त छन्द की तरह कहानी का ऐसा मुक्त रूप हिन्दी में दूसरा नहीं आया। इसमें औपन्यासिक कुतूहल, नाटकीय फड़क और काव्यात्मक समवेदना है। भाषा में बोलचाल की स्वाभाविकता और व्यञ्जकता है। इसका फ़िल्मपिक्चर बहुत अच्छा बन सकता है।

हिन्दी के उक्त तीनों कहानीकार दिवङ्गत हो चुके हैं, किन्तु उनकी कृतियाँ साहित्य में जीवित हैं।

प्रेमचन्द की कहानी-शैली अभी तक उस नयी यथार्थवादी पीढ़ी में भी चल रही है, जो उर्दू के वातावरण से हिन्दी में आयी है।

'प्रसाद' की कहानियों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें से 'प्रतिध्वनि', 'आकाश-दीप,' 'आँधी,' 'इन्द्रजाल' भावुक पाठकों को प्रिय हैं। प्रसाद की कहानियों का प्रभाव छायावाद के कवि-हृदय नवयुवकों पर पड़ा है। श्री धर्म्मवीर भारती के 'स्वर्ग और पृथ्वी' (कहानी-संग्रह) में 'प्रसाद' का नवप्राञ्जल तारुण्य है।

'प्रसाद' के प्रभाव से स्वतन्त्र स्वर्गीय चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने भावात्मक कहानी की एक अपनी विशेष शैली दी थी, जिसमें कथानक नहीं, कथा का प्रसङ्गाभास रहता था। उनकी समास-गुम्फित सघन सांस्कृतिक भाषा और सरस व्यञ्जना से हृदय काव्य के अलौकिक आनन्द-जगत में विहार करने लगता है। यह कथा के माध्यम से गद्यकाव्य का नवोत्थान है। 'हृदयेश' जी की भाषा और शैली 'कादम्बरी' की याद दिलाती है।

भारतेन्दु-युग में कथा-साहित्य पर बङ्किम का प्रभाव पड़ा था, द्विवेदी-युग में रवीन्द्रनाथ का, उसके बाद शरच्चन्द्र का। रवीन्द्र का प्रभाव छायावाद पर और शरच्चन्द्र का प्रभाव प्रेमचन्द्र के बाद के उपन्यास-साहित्य पर देखा जा सकता है। छायावाद की भावमयी आत्मा और शरच्चन्द्र की तपोमुखी प्रेम-साधना का एकीकरण श्री वीरेन्द्रकुमार ।जैन के 'आत्मपरिणय' में हुआ है। वीरेन्द्र ने अपनी पात्रियों को आत्मा की बालिकाएँ अथवा ज्योतिर्म्मयी कन्याएँ कहा है। रवीन्द्र, शरद और प्रसाद की चरित्र-

सृष्टियों की तरह ही 'आत्मपरिणय' की भी अपनी एक मौलिक सृष्टि है, लोकोत्तर किन्तु पूर्णतः स्वाभाविक और सामाजिक। हिन्दी के नवीन कथा-साहित्य में ऐसी सरल सुकोमल संवेदनशीलता दुर्लभ है।

रवीन्द्रनाथ के 'क्षुधित पाषाण' और 'घाट की बात' जैसी मर्म्मव्यञ्जक शैली में श्री कमलाकान्त वर्म्मा ने एकाध कहानियाँ लिखी थीं, जिनमें से 'पगडण्डी' की याद बनी हुई है। चेतना की अनुभूति से जड़जगत भी मानव-जीवन के साथ कितना घनिष्ठ और उसी की तरह सजीव हो सकता है, यह इन कहानियों में देखा जा सकता है। छायावाद के भावजगत का वस्तुजगत में ऐसा सुगम मनोरम साधारणीकरण और क्या हो सकता है!

शरद और प्रेमचन्द के प्रभाव से हिन्दी के कहानी-साहित्य में जैनेन्द्रकुमार का आगमन हुआ। उन्होंने एक अपनी भाषा, अपनी दृष्टि और अपनी अभिव्यक्ति दी। उनके चरित्र जनसाधारण की तरह सरल होते हुए भी मनोवैज्ञानिक गूढ़ता से रहस्यमय हैं, पहेली हैं। प्रतिनिधि कहानी-लेखकों में उनका अपना स्थान है। उनके कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु एक ही कहानी याद है—'रुकिया बुढ़िया।'

द्विवेदी-युग में इने-गिने ही कहानीलेखक थे, किन्तु उसके बाद बहुत से नवयुवक कहानी-लेखक आ गये, जिनमें से कई इस समय कीर्त्तिलब्ध कथाकार हैं।

... ...

प्रसाद अपने नाटकों द्वारा अतीत की ओर थे, प्रेमचन्द अपनी कहानियों और उपन्यासों द्वारा वर्त्तमान की ओर। दोनों ही आदर्शवादी थे, किन्तु प्रसाद को अपने भावादर्श के अनुरूप

वर्त्तमान से उपादान नहीं मिल रहा था, प्रेमचन्द को अपने सामाजिक आदर्श के अनुरूप वर्त्तमान से ही साधन मिल गया था। प्रसाद स्थायी रागवृत्तियों को लेकर चल रहे थे, प्रेमचन्द तात्कालिक प्रवृत्तियों को, इसीलिए वे अपने युग के आन्दोलनों से प्रभावित होते रहे हैं। प्राचीन भारत का शाश्वत जीवन-दर्शन प्रसाद की कृतियों में देखा जा सकता है, आधुनिक भारत के सामाजिक और राष्ट्रीय जागरण का इतिहास प्रेमचन्द जी की रचनाओं में।

हमारे साहित्य में जब प्रसाद जी के ऐतिहासिक नाटकों और प्रेमचन्द जी के सामयिक उपन्यासों का युग चल रहा था तब एक नवीन कलाकार का आविर्भाव हुआ, वे हैं पाण्डेय बेचन शर्म्मा 'उग्र'। प्रारम्भ में उन्होंने राष्ट्रीय कविताएँ और राजनीतिक कहानियाँ लिखीं, उसके बाद उनकी कहानियों और उपन्यासों में रोमांस और यथार्थ का प्राधान्य हो गया। आदर्शवाद के साहित्यिक वातावरण में यथार्थवाद का आरम्भ 'उग्र' और चतुरसेन शास्त्री की कृतियों से हुआ।

भारतेन्दु-युग में जो रङ्गीनी किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों में थी वही रङ्गीनी गान्धी-युग में उग्र की कहानियों और उपन्यासों से नई जवानी पा गई। उनकी भाषा और शैली पर उर्दू की छाप थी।

प्रेमचन्द जी की कहानियाँ और उपन्यासों में खादी की सादगी के भीतर नयी पीढ़ी का स्वास्थ्य था, उग्र की कहानियों और उपन्यासों में रोमांस की रङ्गीनी के भीतर पुराने सड़े-गले समाज की गन्दगी और दुर्गन्ध थी। उनकी रचनाओं से आदर्शवादी आलोचक चौंक पड़े। पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी ने उग्र के साहित्य को घासलेटी कहा और घासलेट-विरोधी आन्दोलन चलाया।

अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने 'चाकलेट' पर गान्धी जी की सम्मति माँगी थी। उनकी सम्मति मृत्यु के दो-तीन वर्ष के बाद (सन्' ५१ में) प्रकाशित हुई। गान्धी जी ने लिखा था—"चाकलेट नामक पुस्तक पर जो पत्र था उसको मैंने 'यङ्ग इण्डिया' के लीयें नोट लिख कर भेज दिया। पुस्तक तो नहिं पढ़ा था। टीका केवल आपके पत्र पर निर्भर थी। मैंने सोचा इस तरह टीका करना उचित नहीं होगा, पुस्तक पढ़नी चाहीं। मैंने पुस्तक आज खतम की। मेरे मन पर जो असर आप पर हुआ, नहीं हुआ है। मैं पुस्तक का हेतु शुद्ध मानता हूँ। इसका असर अच्छा पड़ता है या बुरा, मुझे मालुम नहिं है। लेखक ने अमानुषी व्यवहार पर घृणा ही पैदा की है। आपके पत्र की पेम्फ अब खुल्वा दूँगा।"—इस सम्मति से ज्ञात होता है कि गान्धी जी के कर्म्म-सङ्कुल व्यावहारिक जीवन में भी कलात्मक रसात्मक हृदय था, तभी तो वे रवीन्द्रनाथ को गुरुदेव कहते थे।

उग्र जी की कृतियों का प्रचार रुक जाने का कारण घासलेट-विरोधी आन्दोलन नहीं है। वनस्पति का विरोध होने पर भी उसका प्रचार बढ़ता ही जा रहा है। कारण देश-काल की परिस्थितियों में खोजना होगा। समाज अभी बदला नहीं है और न जनसाधारण में सुरुचि का विकास हो सका है, वातावरण उत्तरोत्तर दूषित ही होता जा रहा है। यथार्थवाद नया रूपान्तर ले रहा है। नैतिक-अनैतिक की अपेक्षा दृष्टिकोण आर्थिक और मनोवैज्ञानिक बनता जा रहा है। अपने युग-जीवन के भीतर से जनसमाज अब भी रोमांस की रङ्गीनी पसन्द करता है, किन्तु जिस कारण से देवकी-नन्दन और किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास कालातीत हो गये हैं उसी कारण से उग्र जी के उपन्यास भी। कल की होली आज फीकी पड़ती जा रही है; दिल वही है किन्तु न तो वह रङ्ग है, न वह उमङ्ग।

जीवन के अभाव में कृत्रिमता की होड़ हो रही है। किशोरीलाल और उग्र के उपन्यासों और कहानियों में एक जीती-जागती जिन्दगी थी, ताजगी थी, पुरानी पीढ़ी में अब भी उनका स्थान बना हुआ है। युग जब कभी अपने निर्म्माण में प्रकृतिस्थ हो सकेगा तब वह अतीत के जीवन और कला का ही पुनर्विकास करेगा, आधुनिक साहित्य आधि-व्याधि की तरह समाप्त हो जायगा।··· ··

प्रसाद जी यद्यपि आजकल के आन्दोलनों से प्रभावित नहीं थे, फिर भी उन्होंने 'कङ्काल' में घोरतम यथार्थ को प्रत्यक्ष कर दिया है। उसमें समाज कितना खोखला हो गया है! नाटकों द्वारा अतीत के ऐतिहासिक जगत में पर्य्यटन करते हुए भी उन्होंने उसी युग के आधुनिक पतन की विडम्बना वर्त्तमान धार्मिक, आर्थिक और सार्वजनिक प्रवञ्चनाओं में दिखला दी है, ठीक उसी तरह जैसे बृटिश काल के बाद के भारत की भ्रष्टता और स्वार्थ-लोलुपता आज देखी-दिखाई जा रही है। 'कङ्काल' के विजय की तरह ही इस युग के असत् वातावरण में गान्धी जी का भी बलिदान हो गया।

'कङ्काल'-जैसा शिष्ट और स्पष्ट तथ्यचित्र हिन्दी के किसी भी उपन्यास में नहीं है। इसमें सांस्कृतिक सुरुचि है। इसके आगे सब यथार्थवादी उपन्यास फीके हो गये हैं। यथार्थ को दिखला कर भी प्रसाद ने नये लेखकों की तरह उसे ही स्वाभाविक और युगधर्म्म नहीं मान लिया है। जिनके कारण समाज दूषित होता जा रहा है वे ही यथार्थ को 'वाद' बना कर साहित्य में उपस्थित कर रहे हैं। प्रसाद ने यथार्थ को एक ऐसे निःसत्त्व वातावरण के रूप में दिखलाया है जो जीवन की दृष्टि से शून्य है। यथार्थवादी लेखक इसी शून्य परिधि में रोमांस, मनोविज्ञान और समाज-विज्ञान की उपलब्धि के लिए व्यर्थ प्रयास कर रहे हैं। प्रसाद की 'राज्यश्री'

के शब्दों में उनसे भी यही कहा जा सकता है—'इस स्मशान को कुरेद कर पाओगे क्या ?'

प्रसाद जी का रचनात्मक दृष्टिकोण 'तितली' में देखा जा सकता है। गान्धी-युग से प्रभावित होकर उसमें उन्होंने ग्रामीण भूमि पर पदार्पण किया है। प्रेमचन्द जी भी तो उसी भूमि पर नवनिर्म्माण करना चाहते थे।

ग्रामीण योजना में गान्धी जी का दृष्टिकोण नैतिक, राजनैतिक और आर्थिक था। आर्थिक दृष्टि बुनियादी होते हुए भी उस समय की पराधीनता में वह पूर्णतः स्पष्ट नहीं थी (गान्धी जी खादी के रूप में केवल एक प्रतीक लेकर चल रहे थे, कृषि-जीवन की समस्या उसके पीछे छिपी हुई थी), और अब जब कि भारत स्वतन्त्र हो गया है तब आर्थिक दृष्टिकोण यन्त्रोद्योगों की ओर चला गया, स्वाधीनता-संग्राम के समय का दृष्टिकोण ओझल हो गया। गान्धी जी सिर धुनते ही रह गये। प्रेमचन्द जी राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनों में ही पूँजीवाद की प्रधानता और गाँवों की दयनीयता देख कर देश की सार्वजनिक गति-विधि से निराश हो गये थे। उनकी निराशा 'गोदान' में व्यक्त हुई।

प्रसाद ने 'कङ्काल' में राष्ट्रीय चेतना के पूर्व का सामाजिक यथार्थ दिया, प्रेमचन्द ने स्वतन्त्रता-संग्राम के दो अध्याय देख लेने के बाद 'गोदान' में सन्' ३० के बाद के भारतीय वातावरण का वस्तु-सत्य दिया। 'होरी' युग की सचाई और मानवता की कसौटी है। कथानक में प्रसङ्गान्तर विस्तार होते हुए भी 'गोदान' प्रेमचन्द जी की लेखन-कला का चरम उत्कर्ष है। इस एक ही उपन्यास में उनकी सम्पूर्ण विशेषताएँ (भाषा, शैली, दृश्यनिरूपण, चरित्र-चित्रण और जीवन-दर्शन) पुञ्जीभूत हो गई हैं।

प्रेमचन्द जी के बाद हिन्दी का कथा-साहित्य विविध युगों और विविध दृष्टिकोणों (धारणाओं) को लेकर चल रहा है—

वृन्दावनलाल वर्म्मा मुस्लिमकालीन मध्ययुग के समाज को अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में सजीव कर रहे हैं। उनका आरम्भिक उपन्यास 'प्रत्यागत' है, उसमें शरचन्द्र की औपन्यासिक कला है—कथानक में वैसी ही संक्षिप्तता, चरित्र-चित्रण में वैसी ही स्वाभाविकता और मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों में वैसी ही समवेदनशीलता है। उसके बाद 'विराटा की पद्मिनी' और 'गढ़ कुण्डार' से वर्म्मा जी का क्षेत्र भी बदल गया और औपन्यासिक विन्यास भी। अब तक उनके कई उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। 'झाँसी की रानी' और 'मृगनयनी' से उनकी रचना-कुशलता का परिचय मिलता है। सिनेमा के कलाकार उनके उपन्यासों को अपने टेकनिक के अनुरूप पाते हैं।

ऐतिहासिक नाटककार 'प्रसाद' की तरह, ऐतिहासिक उपन्यासकार वर्म्मा जी का भी हिन्दी के कथा-साहित्य में विरल स्थान है। एक ही मध्ययुग के दिग्दर्शक साहित्यकार होते हुए भी दोनों की कृतियों में अतल-वितल का अन्तर है। प्रसाद जी संस्कृति और मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों की गहराई में हैं, वर्म्मा जी बाह्य प्रवृत्तियों और उसकी सामाजिक परिणतियों की सतह पर। हिन्दू-काल और मुस्लिम-काल की तरह यह अन्तर स्वाभाविक ही है।

प्रसाद जी के नाटकों में इतिहास का छायाभास रहता है, इसी लिए कथानक बोझिल नहीं हो पाता। वर्म्मा जी के उपन्यासों में इतिहास इतिवृत्त बन जाता है, वह कथा के स्वाभाविक प्रवाह को अवरुद्ध कर देता है। फिर भी प्रसाद के नाटकों की अपेक्षा वर्म्मा जी के उपन्यास लोकजीवन के अधिक समीप हैं, छायावाद की

अपेक्षा द्विवेदी-युग की कविता की तरह। प्रसाद जी का वातावरण राजसिक है, वर्म्मा जी का वातावरण सार्वजनिक। राजनीति के असाधारण वातावरण में भी उन्होंने जनसाधारण के जीवन को विस्मृत नहीं कर दिया है। वर्त्तमान युग का जनजीवन तो दिखाई देता है किन्तु अतीत के इतिहास में जो दैनन्दिन जीवन ओझल है, वर्म्मा जी उसे ही प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न कर रहे हैं। लोकगीतों, दन्तकथाओं और युग-युग से प्रवाहित परम्पराओं से ये विशेष प्रभावित हैं। इतिहास और जीवन-दर्शन के अतिरिक्त दृश्य-चित्रण, वातावरण, घटनाओं का सङ्घटन और स्वाभाविक वार्त्तालाप, उनके उपन्यासों की विशेषताएँ हैं।

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह अपनी कृतियों द्वारा ब्रिटिश-काल के भारतीय समाज की झलक दे रहे हैं। उस युग का सामाजिक जीवन भी तो अब स्मृति-शेष (ऐतिहासिक) होता जा रहा है।

राजा साहब की कलम में अब भी ताजगी और जवानी है। उनकी कहानी कहीं लहरती, कहीं बहरती, कहीं डूबती-उतराती, कैसी रिलमिल-रिलमिल करती, रस की झिरझिरी बहाती चलती है। वातावरण, बातचीत और तर्जेअदा में गोष्ठियों और बैठकों की-सी सजीवता और स्वाभाविकता है। कभी-कभी कथानक में अनावश्यक विस्तार आ जाता है, जैसे 'पूरब और पच्छिम' में। यह उपन्यास वहीं पर पूर्ण मर्म्मस्पर्शी हो जाता है जहाँ मिनी को अपना वाटर प्रूफ और चित्र देकर कथा-लेखक विदा हो जाता है। उर्दू दास्तानों की तरह कहानी को किस्सा बना देने की अपेक्षा किसी हद तक उसे पाठकों की संवेदनशीलता और कल्पनाशीलता के लिए भी छोड़ देना चाहिये।

सेठ गोविन्ददास ने लिबरल-युग की कांग्रेस से लेकर गान्धी-युग तक की राष्ट्रीय और सामाजिक प्रगति के आधार पर एक बृहत् उपन्यास लिखा है—'इन्दुमती'। यह उपन्यास इतिहास और भ्रमण-वृत्तान्त है। इसमें लेखक ने इस सैद्धान्तिक सतह पर कथानक को अग्रसर किया है—"विश्व में निज का व्यक्तित्व ही सब कुछ है। जो अपने को ही केन्द्र मान, सब कुछ अपने लिए करता है, संसार की समस्त वस्तुओं को अपने आनन्द के लिए साधन मानता है, उसी का जीवन सुखी और सफल होता है।"—रूढ़ दृष्टि से देखने पर यह सिद्धान्त स्वार्थ-सङ्कीर्ण जान पड़ता है, किन्तु इसमें मनुष्य की आत्मचेतना का वह व्यक्तित्व-बिन्दु है जिसका प्रसार ही विश्वजीवन है। उपन्यास के अन्त में दर्शन और विज्ञान-द्वारा लेखक ने यही प्रमाणित करना चाहा है, किन्तु सिद्धान्त सिद्धान्त ही बन कर रह गया है, वह चरित्र-द्वारा क्रमशः प्रस्फुटित दृष्टान्त नहीं बन सका है। यद्यपि 'इन्दुमती' अपने जीवन से थक कर, विवश होकर त्रिलोकीनाथ के सात्त्विक व्यक्तित्व का आश्रय ग्रहण कर लेती है, किन्तु क्या उसे आत्मशान्ति मिल जाती है; उसकी समस्या, उसकी जिज्ञासा क्या अपना समाधान पा लेती है ?

इस उपन्यास से लेखक की बहुज्ञता और जीवन के अनेक क्षेत्रों की अनुभवशीलता का परिचय मिलता है। यह इन्साइक्लोपीडिया बन गया है। अपनी सारी जानकारी को एक ही पुस्तक में एकत्र कर देने के कारण कथानक बहुत फैल गया है, गरिष्ठ हो गया है, पाठक ऊब जाता है। यदि जीवन का कोई विशेष अध्याय लेकर रसोद्रेक किया जाता तो हृदय रम जाता। सेठ जी में औपन्यासिक क्षमता है। नाटकों की अपेक्षा वे उपन्यास अच्छा लिख सकते हैं। 'इन्दुमती' में दृश्यों का वर्णन, वातावरण का

चित्रण, चरित्र का मनोवैज्ञानिक परिशीलन, भाषा का सहज प्रयोग, उपमाओं और रूपकों द्वारा गति-विधि-स्थिति और अनुभूति का निदर्शन, सफल और सजीव है।

देश-काल की हलचलों में सामाजिक जीवन का अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व भी है। इसका निम्मणि मनुष्य के हार्दिक सम्बन्धों अथवा पारिवारिक और दाम्पत्यिक संवेदनों से हुआ है। शरच्चन्द्र ने अपनी कहानियों और उपन्यासों में इसे ही विशेष महत्त्व दिया है।

शरद् के कथा-साहित्य से सर्वश्री सियारामशरण गुप्त, जैनेन्द्र-कुमार और भगवती प्रसाद वाजपेयी को प्रेरणा मिली है।

सियाराम जी के उपन्यासों ('गोद' और 'नारी' में) अनुभूति और अभिव्यक्ति की शारदीय सरलता और स्वाभाविकता है। शरद बाबू यदि हिन्दी में लिखते तो उनकी कृतियों का वही रूप होता जो सियाराम जी की उक्त रचनाओं में है। खेद है कि वे और नहीं लिख सके।

जैनेन्द्र जी और वाजपेयी जी शरद् की सहृदय दृष्टि (समवेदन-शील मनोवैज्ञानिक दृष्टि) ही ग्रहण कर सके, उनकी सहज सरल कलाभिव्यक्ति नहीं। ये लेखक अपने मनोविज्ञान का चमत्कार दिखलाना चाहते हैं, इसीलिए सहज दृष्टि भी दुरूह हो गयी है। वाजपेयी जी के चरित्र-चित्रण में यद्यपि जैनेन्द्र जी-जैसी जटिलता नहीं है, तथापि उनकी अपेक्षा स्वाभाविकता भी नहीं है। वे चरित्रों को अपनी ही मानसिक सतह पर रख कर ऐसे भाव, विचार, उद्गार व्यक्त कराते हैं जो पढ़ने-सुनने में अच्छे लगते हैं किन्तु पात्र-पात्रियों की स्थिति के अनुरूप नहीं होते।

शरद के 'श्रीकान्त' के आरम्भ की तरह उनके 'चलते-चलते' का पहिला परिच्छेद बड़ा ही स्वाभाविक और लोमहर्षक है, किन्तु बाद में यह उपन्यास मानसिक तिलस्म बन गया है। वाजपेयी जी में गार्हस्थिक और सामाजिक अनुभूति बड़ी मार्मिक है, यदि वे कथानक का आडम्बर छोड़ कर अभिव्यक्ति का क्षेत्र सन्तुलित कर लें तो वे घरेलू कलाकार के रूप में विशेष सफलता पा सकते हैं।

जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक गूढ़ता होते हुए भी मर्म्मस्पर्शिता है। वे देश-काल और वातावरण के भीतर से ऐसे ही चरित्रों का चुनाव कर लेते हैं जो उनके मनोविज्ञान को स्वाभाविक बना सकें। इसी लिए उनके पात्र-पात्रियाँ असाधारण होते हुए भी अपरिचित नहीं हैं।

जैनेन्द्र जी मनुष्य को उसके अभ्यन्तर में और जीवन को उसकी गहराई में देखते हैं। ऐसी ही तो अन्तर्दृष्टि शरद की भी थी, फिर उनकी अभिव्यक्ति में दुर्बोधता क्यों नहीं आयी? शरद थे द्रष्टा, जैनेन्द्र जी द्रष्टा के अतिरिक्त बौद्धिक अन्वीक्षक भी हैं।

जैनेन्द्र जी के आरम्भिक उपन्यास उतने दुरूह नहीं हैं। इधर उनके तीन उपन्यास प्रकाशित हुए हैं—'विवर्त्त', 'सुखदा', 'व्यतीत'। तीनों के चरित्र और कथानक एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं। जान पड़ता है, जैनेन्द्र जी की लेखनी लीक करने लगी है। पढ़ने के बाद और सब कुछ तो भूल गया, केवल याद रह गये 'विवर्त्त' के जितेन और भुवनमोहिनी... कारण? शायद तीनों उपन्यासों में यही उपन्यास अधिक प्राञ्जल है। इसमें बाहर का उद्भ्रान्त क्रान्तिकारी अपने भीतर स्नेह-वत्सल समवेदनशील युवक है। गृह-जीवन मनुष्य को ऐसा ही सहृदय सामाजिक प्राणी बना देता है।

'विवर्त्त' (भँवर) के नाम से ही जैनेन्द्र जी की मानसिक गति-विधि के घुमाव-फिराव का परिचय मिल जाता है। 'परख' को छोड़ कर यह नाम उनके अन्य सभी उपन्यासों के लिए ठीक बैठ जाता है। अपनी चक्करदार मनोवैज्ञानिक भ्रमणशीलता से अब स्वयं जैनेन्द्र जी भी थकान और परेशानी अनुभव करने लगे हैं। उनके नये उपन्यासों में यत्र-तत्र उनकी विकलता व्यक्त हो गयी है। 'विवर्त्त' में नरेश कहता है—"सामक्र* के लिए जगह अदालत काफी है। वहाँ अकल की पैंतरेबाजी चलाते जाइये, जितनी चला सकते हैं। मैं उससे आजिज हूँ। मैं सही और सीधे का कायल हूँ। टेढ़े से चक्कर बनता है, चाल नहीं बनती। शायद हम चक्कर के ही शौक़ीन हैं। हो सकता है खेल का वही मजा हो। पर साफ और सीधा भी कभी चाहिये। नहीं तो दुनिया जाल बनी रहे और होशियारी ही रह जाय; असलियत न रहे।"

जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में चक्कर है, किन्तु व्यूह नहीं; भूल-भुलैया है। इसमें आदमी फँसता नहीं, घूम-फिर कर राह पा जाता है।

इधर के उपन्यासों में जैनेन्द्र जी कथा का उपसंहार भी देने लगे हैं, मानो वे कहानी को प्रमाणित करना चाहते हैं। 'विवर्त्त' में इसकी आवश्यकता नहीं थी। कथा की मार्म्मिकता में यह संक्षिप्त इतिवृत्त व्यर्थ है। पाठकों को उत्सुक और जिज्ञासु बनाये रखना चाहिये। आवश्यकता से तनिक भी अधिक खिला कर भूख नहीं मार देनी चाहिये। अतृप्ति से ही पाठक में रस-ग्राहकता आती है।

---

* बौद्धिक जञ्जाल।

अज्ञेय जी के उसन्यासों में चक्रव्यूह है। 'शेखर' में हृदय की कुछ सहजता भी है, किन्तु 'नदी के द्वीप' में केवल बौद्धिक जटिलता है। जान पड़ता है, अज्ञेय जी ने पढ़ा बहुत है, पचाया कम है। अध्ययन उनका अनुभव नहीं बन सका है। 'शेखर' और 'नदी के द्वीप' में उन्होंने अपने अध्ययन (विशेषतः अंग्रेजी काव्यसाहित्य के अध्ययन) का प्रदर्शन किया है। अनुभव के अभाव में उनका मनोविज्ञान आधुनिक विधान (किताबी कानून) बन गया है।

अज्ञेय जी में कला-कुशलता है। वे टेकनीशियन हैं, शिल्पी हैं—कविताओं में, कहानी में, निबन्ध में, उपन्यास में। उनमें वाग्वैचित्र्य है। अपनी कलात्मकता के कारण 'शेखर' और 'नदी के द्वीप' में यथास्थान वे रूमानी रोमांस की भावानुभूति का सम्मोद्रेक कर सके हैं। वही उनका सर्वस्व है।

प्रगतिशील समालोचक प्रकाशचन्द्र गुप्त लिखते हैं—"आज कल अनेक प्रतिष्ठित उपन्यासकार केवल एक पात्र का निर्म्माण करना जानते हैं जो वे स्वयं ही हैं। यह भी कहा जा सकता है कि वे केवल एक ही उपन्यास लिखना जानते हैं, और उसी की फिर-फिर पुनरावृत्ति करते हैं।"—यही बात आज कल के नाटककारों के लिए भी कही जा सकती है। असल में वे डिक्टेटर बनना चाहते हैं। उनमें सामाजिकता नहीं है, उदारता नहीं है, हार्दिकता नहीं है; पलायन और अहङ्कार है। समाज से वे लेना ही चाहते हैं, देना नहीं। उनकी सङ्कीर्णता और दायित्त्वशून्यता के कारण समाज उन्हें अपना नहीं पाता, अतएव वे एक अलग संसार के स्वयंभू विधाता बन जाना चाहते हैं, उनकी रचनाओं में उन्हीं की स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता व्यक्त हो जाती है।

प्रकाशचन्द्र जी के इस कथन में भी सचाई है—"आज कल अनेक तथाकथित उपन्यास कथा-भाग से सर्वथा शून्य रहते हैं। उन्हें हम मनोवैज्ञानिक निबन्ध अथवा गद्यकाव्य की कोटि में अधिक आसानी से रख सकते हैं। यह नूतनता और विकास के नाम पर होता है। जिस प्रकार टी. एस. इलियट की अंग्रेजी कविता क्लासिकल परम्परा के सम्बन्ध में सङ्कट प्रकट करती है, उसी प्रकार उपन्यास की परम्परा में यह क्षय का लक्षण है।"—(और नाटकों की परम्परा में भी।)—कविता और कहानी की भी यही स्थिति है। यद्यपि उनके संक्षिप्त कलेवर में बहुत बौद्धिक ठूस-ठांस नहीं की जा सकती, फिर भी जहाँ ऐसा दुष्प्रयास किया जाता है वहाँ रचना लद्धड़ हो जाती है।

प्रकाशचन्द्र जी जीवन में प्रगतिवादी और कला में प्राचीनतावादी जान पड़ते हैं। यदि इस कोटि के विचारकों का क्लासिक कलाप्रेम आधुनिक म्युजियमों का एक कुतूहल मात्र नहीं है तो जीवन में भी प्राचीन परम्परा को सक्रिय सजीव स्थान देना होगा। आचार्य्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का रुख-मुख इसी तरह का था। पुरानी उपन्यास-कला के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—"पुराने ढाँचे में काव्यत्व की मात्रा यथेष्ट रहती थी। परिच्छेदों के आरम्भ में अच्छे अलङ्कृत दृश्य-वर्णन होते थे और पात्रों की बातचीत भी कहीं-कहीं रसात्मक होती थी।...उपन्यास के पुराने ढाँचे के सम्बन्ध में एक बात कहना चाहता हूँ। वह यह कि वह कुछ बुरा न था। उसमें हमारे भारतीय कथात्मक गद्य-प्रबन्धों का भी आभास रहता था।"

जीवन और कला की पुरानी परम्परा का प्रयोग पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और श्री वीरेन्द्र कुमार जैन के 'मुक्तिदूत' में देखा जा सकता है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में उस युग का राजनीतिक सांस्कृतिक और सामाजिक वातावरण सजीव हो गया है, साथ ही वाह्य सङ्घर्षों में आन्तर्द्वन्द्वों की मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता और रागात्मक मन्थन है। भाषा में पूर्णतः संस्कृत की सघनता नहीं है, वह हलकी-फुलकी भी हो गयी है, किन्तु उसकी भाव-परम्परा बनी हुई है, जैसे निपुणिका से 'लउनिया' में। अपने इस सामान्य रूप में भी वह अतीत की ही सामाजिक पहिचान है।

द्विवेदी जी में औपन्यासिक प्रतिभा बहुत अच्छी है। इस कल्पित कथा की पात्रियाँ जीती-जागती आत्माओं की तरह ही हृदय में बस जाती हैं—भट्टिनी, निपुणिका, सुचरिता को कौन भूल सकता है। द्विवेदी जी में रसप्राणता है, किन्तु वे रस-भङ्ग भी कर देते हैं। कथा की मर्म्म-व्यथा से जब हृदय घनीभूत हो उठता है, तब अन्त में हास्यपूर्ण उपसंहार समवेदना का उपहास कर देता है। करुणा के बाद हास्य के इस पुट में अच्छी रासायनिकता नहीं है। प्रस्तावना में ही उपसंहार का ऐसा समावेश हो जाना चाहिये था कि वास्तविकता भी मालूम हो जाती और कथा की मार्म्मिकता भी बनी रहती।

'मुक्तिदूत' जैनधर्म्म के प्रवर्त्तक महावीर के जीवन पर आधारित उपन्यास है। इसमें भाषा का सरस सौन्दर्य्य और दृश्यों का सजीव चित्रण है। अपनी लेखन-कला में यह हिन्दी की नयी 'कादम्बरी' है। उच्चकोटि का गद्यकाव्य है। यद्यपि आधुनिक अर्थ में उपन्यास, गद्यकाव्य से भिन्न है; तथापि जहाँ आख्यान भावना-प्रधान होता है वहाँ गद्यकाव्य भी स्वाभाविक और अच्छा लगता है।

वीरेन्द्र के 'आत्मपरिणय' की ज्योतिर्म्मयी आत्मा ही 'मुक्तिदूत' में अञ्जना बन गई है। वह अनुरागवती है। राग-विराग

के अन्तर्द्वन्द्व में उसके सात्त्विक प्रणय की विजय होती है। जैन-धर्म्म अतीन्द्रिय और अनासक्त है। धर्म्म अथवा कोई भी मत और सम्प्रदाय जब निर्जीव और रूढ़ हो जाता है तब कलाकार ही उसमें अपनी कला से प्राणप्रतिष्ठा करता है। वीरेन्द्र ने जैनधर्म्म को माधुर्य्य देकर उसे वैष्णव-काव्य की तरह ही रस-स्निग्ध कर दिया है।

मोअन-जो-दड़ो के युग को लेकर रांगेय राघव ने एक वृहत् उपन्यास लिखा है—'मुर्दों का टीला।' उस युग के सौन्दर्य्य, वैभव और कला-विलास को यह उपन्यास सजीव कर सका है। भाषा में प्रवाह और काव्यत्त्व है। शैली में व्यञ्जकता। उद्गारों और उक्तियों में ओज और मार्म्मिकता है। चरित्र-चित्रण में अनुप्राणता। इस उपन्यास की निरीह पात्र-पात्रियों से बड़ी ममता हो जाती है। हम सोचने लगते हैं, अब भी वे कहीं किसी शून्य में अपनी साँस भरते होंगे। शायद वे फिर इस पृथ्वी पर शरीर धारी होकर कहीं निराधार घूम रहे होंगे।

इस उपन्यास में राजनीति और रोमांस की प्रधानता है। रांगेय राघव प्रगतिशील उपन्यासकार हैं। उन्होंने मोअन-जो-दड़ो के युग को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से उपस्थित किया है, अतएव उस युग की प्राचीनता प्रच्छन्न हो गई है, आधुनिक युग का द्वन्द्व प्रत्यक्ष हो गया है। वर्त्तमान वातावरण में जैसे प्राचीन वातावरण असामयिक जान पड़ता है वैसे ही अतीत में वर्त्तमान का समावेश भी। उत्साह के आधिक्य में ऐतिहासिक दृष्टिकोण को अस्वाभाविक नहीं बना देना चाहिये। यों तो मनुष्य की कुछ रागात्मक प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो सभी युगों में एक-सी ही रहती हैं, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति देश-काल और पात्र के अनुरूप ही करनी चाहिये। प्रसाद जी के ऐतिहासिक नाटकों में यही स्वाभाविकता है।

काव्य-पुराण-इतिहास के अतिरिक्त दन्तकथाओं और दास्तानों से भी सामग्री ली जा रही है। जैनेन्द्र जी ने 'नीलम देश की राज-कुमारी' में लोककथा का और धर्म्मवीर भारती ने 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में दास्तान का नये ढङ्ग से उपयोग किया है। भारती की मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ बहुत सहज और बारीक है, फिर भी *मन-मौजी माणिक मुल्ला को व्यर्थ ही प्रगतिशील बना दिया है।* नयी प्रवृत्तियों के लिए नया पात्र चुन लेना ठीक है, किन्तु पुराने पात्रों को उन्हीं के व्यक्तित्व के अनुरूप विकसित-प्रस्फुटित करना चाहिये।

उपन्यास के मनोवैज्ञानिक निबन्ध बन जाने का एक दृष्टान्त श्री इलाचन्द्र जोशी के 'सुबह के भूले' में मिलता है। इसमें कथा-नक का क्रमिक विकास नहीं हो सका है, चरित्रनायिका का चरित्र एकदम लिफ्ट से ऊपर चढ़ गया है। यह भी स्वाभाविक हो सकता है, किन्तु कथानक व्याख्यान बन गया है।

प्रगतिवादी आलोचक शिवदान सिंह चौहान ने जोशी जी के उपन्यासों को मनोवैज्ञानिक तिलस्म कहा है। उनके सभी उप-न्यास पढ़ने का सुयोग मुझे नहीं मिला है। जो देख सका हूँ उससे जान पड़ता है कि वे पाठकों का हलका मनोरञ्जन करना चाहते हैं। जीवन में इसकी भी आवश्यकता है, किन्तु इसके लिए मनो-विज्ञान का अपव्यय अथवा दुरुपयोग नहीं होना चाहिये।

जीवन की दृष्टि से जोशी जी का हृदय सहज स्वाभाविक है, उसमें गार्हस्थिक और सामाजिक साधना है। 'सुबह के भूले' में महावीर और झमिया का चरित्र चिरस्मरणीय है, थोड़े में ही वह पूर्ण मर्म्मव्यञ्जक है।

अब पुराने चरित्रों के सामने आधुनिक युग की नयी समस्याएँ आ गई हैं। ऐसे ही वातावरण में अपनी 'पाँच कहानियों' में

कथा को आलम्बन और चरित्र को दृष्टान्त बना कर श्री सुमित्रानन्दन पन्त जी ने नया समाज-दर्शन दिया है। यद्यपि उनका विश्लेषण बौद्धिक है तथापि पुराने समाज के पात्र-पात्रियों के साथ उनकी हार्दिक ममता और सहानुभूति है। वे उन्हीं का मौलिक युग-विकास देखना चाहते हैं, न कि आधुनिकयुग की विकृतियों का। 'पाँच कहानियाँ' युग के दुर्गम राजमार्ग पर पुराने समाज का पथ-प्रदर्शन करती है। उनमें शरच्चन्द्र और प्रेमचन्द की-सी स्वाभाविकता और प्रगतिशील युग की-सी यथार्थता है। प्रसाद जी 'कङ्काल' में यथार्थवादी होकर भी अपनी कहानियों में भावुक ही रह गये, पन्त छायावाद की कविताओं में भावुक होकर भी कहानियों में तथ्यप्रवण हो गये। यह भी एक मनोवैज्ञानिक पहेली है।

हिन्दी का कथा-साहित्य देवकीनन्दन खत्री के पार्थिव तिलस्म से निकल कर द्विवेदी-युग में जीवन की सार्वजनिक सतह पर आ गया था। अब उसे मनोवैज्ञानिक तिलस्म से निकल कर फिर सामान्य सतह पर आना चाहिये। आ रहा है।

भाषा, कथानक और चरित्र-चित्रण की सरलता और स्वाभाविकता की दृष्टि से भगवतीचरण वर्म्मा और यशपाल जी के उपन्यास लोक-जीवन के अधिक निकट हैं। वे वर्त्तमान मनोवैज्ञानिक जटिलता से दूर हैं और समाज को उसी की सतह पर सजग दृष्टि से देखते हैं।

भगवतीचरण वर्म्मा यद्यपि कोई 'वाद' लेकर नहीं चले हैं, तथापि उनका चरित्र-चित्रण यथार्थवाद के अन्तर्गत और जीवन-दर्शन नियतिवाद के अन्तर्गत आ जाता है। आदर्शवाद को वे स्वीकार नहीं करते; पाप-पुण्य, सद्-असद् को परिस्थितियों और

आवश्यकताओं का प्रतिफल मानते हैं। 'चित्रलेखा' में उनका दृष्टिकोण देखा जा सकता है। परिस्थितियों और आवश्यकताओं के सामने मनुष्य विवश है, वह भाग्य का भुक्तभोगी है, नियति का दास है।

परिस्थितियों और आवश्यकताओं का अस्तित्व और प्रभाव यशपाल जी भी स्वीकार करते हैं, किन्तु भाग्य या नियति को नहीं मानते। वे प्रगतिवादी साहित्यकार हैं। वे देखते हैं, परिस्थितियाँ और आवश्यकताएँ मनुष्य की ही उपज हैं, मनुष्य ही उन्हें अपने अनुकूल बना सकता है।

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में कथानक का विन्यास सीधा-सादा किन्तु एक कलात्मक भङ्गिमा से आलोड़ित-विलोड़ित है। आदि-मध्य-अन्त में आदि ही लक्ष्यबिन्दु बन गया है। 'चित्रलेखा' और 'तीन वर्ष' में कथानक जहाँ से चलता है, स्मृतियों की तरह भ्रमण करके फिर वहीं पहुँच जाता है। कविता में पुनरावृत्ति की तरह कथानक के आवर्त्तन-प्रत्यावर्त्तन से उपन्यास में भी एक व्यञ्जकता आ जाती है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' और 'आखिरी दाँव' में कथानक समतल है, उसमें वैचित्र्य नहीं है।

वर्म्मा जी की भाषा में स्वाभाविकता और सजीवता है, ओज और आवेग है। घटना और चरित्र-चित्रण में नाटकीय फड़क है। ऐसा जान पड़ता है कि वे दुःसाहस और सनसनी पसन्द करते हैं। यदि नाटक लिखें तो उसमें भी उन्हें अच्छी सफलता मिल सकती है।

वर्म्मा जी की कविताओं की शैली में भी एक नाटकीय व्यञ्जकता है। वे रङ्गमञ्च के अभ्यस्त हैं। यद्यपि उनकी रचनाओं में कोई पर्दा नहीं है, तथापि उनका मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण नेपथ्य

में प्रच्छन्न रहता है। वही मूक भाव से उनके कथानक को गति-विधि देता रहता है।

यशपाल जी के क्रान्तिकारी जीवन में तो साहस और शौर्य है, किन्तु उनकी रचनाओं में आवेश और उत्तेजना नहीं है। उनका साहित्यिक रूप स्थितप्रज्ञ और धीर-गम्भीर है। प्रगतिवादी होते हुए भी उनमें गति का अन्धवेग (अन्धड़) नहीं है। उनके भीतर कोई ऐसी सूक्ष्म चेतना है जो उनकी गति को नियन्त्रित कर देती है, वह है अतीन्द्रिय भावना। यहीं पर यशपाल जी निर्म्मम क्रान्तिकारी नहीं, कोमल कवि-हृदय भी हैं। 'देशद्रोही' में चन्दा उनकी भावना की प्रतिमूर्त्ति है। वह न तो शृङ्गारिक कवियों की नायिका है और न प्रगतिशील समाज की आधुनिक नारी है; वह तो छायावाद की विदेह आत्मा है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रत्यक्षवादी होते हुए भी यशपाल जी को सामाजिक दृष्टि से ऐसी अदृश्य मानवी की झलक कहाँ से मिल गयी? पूछने पर उन्होंने दान्ते की बीयट्रिस का दृष्टान्त दिया था, और कहा था, उसे देखने-समझने के लिए महत्तर मनोविज्ञान की आवश्यकता है।

यशपाल जी की भावानुभूति को हृदयङ्गम न कर पाने के कारण भौतिकवादी आलोचक उसे आज कल के स्थूल रोमांस की दृष्टि से देखते हैं। अपने दृष्टिकोण को कलाकार पर आरोपित करते हैं। क्या जीवन में वासना ही वासना है, भावना का कोई अस्तित्व नहीं है? जल, वायु, प्रकाश क्या पञ्चभौतिक पदार्थ ही हैं, उनका हमारे साथ कोई रागात्मक सम्बन्ध नहीं है? मनुष्य क्या उपभोक्ता ही है, अनुभूतिशील समवेदनशील प्राणी नहीं?

यशपाल की प्रगति में एक अन्तर्गति है। गति तो यन्त्र में भी होती है, किन्तु उसे सजीव चेतना ही सञ्चालित कर सकती है।

यशपाल में दलगत सङ्कीर्णता अथवा यान्त्रिक जड़ता नहीं है। इसीलिए 'पार्टी कामरेड' में उन्होंने भावना का, मनुष्य की हार्दिकता का तक़ाज़ा किया है।

प्रेमचन्द जी के बाद हिन्दी के प्रतिनिधि कहानीकार और उपन्यासकार यशपाल जी हैं। सच तो यह कि उनकी रचनाओं में प्रेमचन्द जी की रचनाओं से भी अधिक सरलता, स्वाभाविकता, सरसता और मार्म्मिकता है—भाषा में, अभिव्यक्ति में, अनुभूति में। प्रेमचन्द जी ने जिस लोकजीवन की साहित्यिक परम्परा का आरम्भ किया वही यशपाल द्वारा निखर कर साफ़-सुथरी हो गयी है। प्रेमचन्द जी ने नया जन्म ले लिया है।

आजकल के कथालेखकों में भी यशपाल का स्थान सर्वोपरि है। आधुनिक लेखक मनोविज्ञान का प्रदर्शन करते हैं और सहज को भी जटिल बना देते हैं। यशपाल जी गूढ़-से-गूढ़ अनुभवों को भी सरल कर देते हैं।

प्रगतिशील-युग के पहिले के लेखकों में पण्डित गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' के उपन्यासों में भी एक सहज स्वाभाविकता है। जो गार्हस्थिक समाज अतीत की कहानी होता जा रहा है, उस समाज को हम उनकी कृतियों में आज भी जीवित देख सकते हैं।

जिन लेखकों पर राजनीतिक प्रभाव नहीं पड़ा है उन लेखकों द्वारा सामाजिक जीवन अब भी उपन्यासों-कहानियों में अपने अस्तित्व का आभास दे रहा है। नयी पीढ़ी में भी अभी आभिजात्य बना हुआ है।

सम्प्रति कथा-साहित्य प्रगतिशीलता की ओर बढ़ता जा रहा है।—

नागार्जुन का एक उपन्यास है 'बलचनमा'। यह बालचन्द का अपभ्रंश या ठेठ रूप है। इसके कथानक में बिहार का ग्रामीण जीवन है। दृष्टिकोण समाजवादी है। 'गोदान' के बाद का राष्ट्रीय वातावरण इस उपन्यास में है। होरी तो पीड़ित-शोषित ही चला गया, किन्तु इस उपन्यास के पात्र किसान-आन्दोलन का सम्बल पा गये हैं।

लेखक ने उपन्यास को स्वाभाविक बनाने के लिए ग्रामीण शब्दों का बहुत प्रयोग किया है। ऐसे शब्दों की भी अपनी विशेषता है, किन्तु उनके प्रयोग में सुरुचि और संस्कारिता का ध्यान बनाये रखना चाहिये। इस दृष्टि से राहुल जी के 'भागो नहीं, बदलो' में जन-भाषा का अच्छा प्रयोग हुआ है।

'बलचनमा' में भाषा की तरह ही लेखन-कला भी सधी नहीं है। फिर भी कृषक-जीवन और ग्रामीण वातावरण के चित्र बहुत ठीक उतरे हैं। यहीं हमें श्री रामवृक्ष शर्म्मा बेनीपुरी की 'माटी की मूरतें' (शब्दचित्र) की याद आती है। उसमें कैसी स्वाभाविकता, कैसी रसमयता और कैसी समवेदनशीलता है !

बिहार के ही एक नये लेखक द्वारकाप्रसाद का यथार्थवादी उपन्यास 'घेरे के बाहर' प्रकाशित हुआ है। इसे अश्लील समझा जाता है। नैतिक दृष्टिकोण को छोड़ कर कलात्मक दृष्टिकोण से देखने पर यह उपन्यास बहुत सफल कहा जा सकता है। लेखक ने अपने फ्रायडियन और मार्क्सवादी दृष्टिकोण को बड़ी सुस्पष्टता और सारगर्भिता से उपस्थित किया है, अपने दृष्टिकोण के अनुरूप ही चरित्रों को स्वाभाविक बना दिया है। हिन्दी में प्रगतिवादी यथार्थ-वाद का इतना परिपूर्ण, परिष्कृत, सुगठित और सशक्त उपन्यास कोई दूसरा नहीं दिखाई देता।

आधुनिक युग में आकर मेरे-जैसा प्राचीन संस्कारों का प्राणी यह सोचने लगता है कि क्या इस युग की प्रज्ज्वलित प्रवृत्तियों से मानवता का पोषण हो सकेगा! करपात्री जी कहते हैं—भोजन स्मशान की आग से भी पकाया जा सकता है और घर के ईंधन से भी। राजनीति और विज्ञान की तरह ही आधुनिक साहित्य (मशीनी साहित्य) स्मशान की आग पर पक रहा है।

ऐसे तामसिक युग में उन गृहस्थप्राणियों की क्या परिणति होगी जो सांस्कृतिक तपस्या से ही अन्तरात्मा का रसायन प्राप्त करना चाहते हैं। इसका उत्तर हमें हिन्दी के इन तीन उपन्यासों में मिल जाता है—'मनुष्य के रूप' (यशपाल), 'आखिरी दाँव' (भगवतीचरण वर्म्मा), 'सुबह के भूले' (इलाचन्द्र जोशी)। इन तीनों उपन्यासों की मुख्य पात्रियाँ गाँवों की भोली-भाली सरला सुशीला कुलकन्याएँ हैं। घटना-चक्र से इन्हें बम्बई के नारकीय नागरिक वातावरण में, समुद्री तूफान में, आ जाना पड़ता है। जीवन-धारण के लिए सिनेमा की अभिनेत्री बनना पड़ता है। यशपाल जी और वर्म्मा जी के उपन्यास में इनका पतन हो जाता है, किन्तु जोशी जी के उपन्यास में नायिका की मर्य्यादा बनी रहती है। जोशी जी का आदर्शचरित्र सङ्घर्ष के भीतर से उत्कर्ष नहीं कर सका है, उसकी सफलता अनायास और आकस्मिक है।

इस समय हिन्दी के वर्त्तमान कथा-साहित्य के सामने तीन पथ-चिह्न हैं—शरच्चन्द्र, प्रेमचन्द, यशपाल। इनकी रचनाओं से भारतीय जीवन के क्रमिक विकास का परिचय मिलता है। ये एक ही गृह-परम्परा के विविध रूपान्तर हैं। भविष्य का कथा-साहित्य इन्हीं के भीतर से अपना मार्ग बनायेगा।

काशी,
३ नवम्बर, सन् १९५२
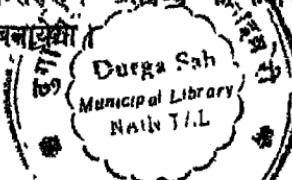
शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित	संशोधित
३५	२०	आनिधुक	आधुनिक
३७	१	बहुसे ए	बसे हुए
४५	१६	प्रछन्न	प्रच्छन्न
६८	२५	लटौ	लौट
८६	११	भावप्रयाव	भावप्रवण
१३६	१६	समान	सम्मान
१४१	५	प्रकृति	प्रवृत्ति
२१६	१४	कुलूहल	कुतूहल